

१. ब्रह्मसूत्रों का दिग्दर्शन

(१) अध्यासभाष्य के अंत में भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्ति ही शारीरकमीमांसा का तात्पर्य है। इस ध्येय की पूर्ति के लिये पहले शास्त्रप्रतिपादित अनुसरणीय क्रम को पहचानने में लाभ है। इस ग्रन्थोद्देशसाफल्य के लिये पर्याप्त यह संक्षिप्त दिक् सूची तैयार की गयी है। तत्त्वमसि में सन्मात्र ब्रह्म ही तत् है। उसको स्वयं समझना ही आत्मैकत्वविद्या है। यह ठीक है कि वाणी से, मन से, आँख से या और किसी इन्द्रिय से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, चूँकि यह ज्ञात है कि वह जगत् का कारण है, वह (ब्रह्म) है ही। **‘नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते इत्यर्थः । तथापि सर्वविशेष रहितः अपि जगत् मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव (ब्रह्म)’** (क.भा. २.३.१२)। इसलिये हमें जगत् के द्वारा ही ब्रह्म को समझना है। और कोई दूसरा मार्ग न होने से ब्रह्मविचार जन्मादि सूत्र से ही आरंभ होता है। ब्रह्मोपादानत्व इस सूत्र में अन्तर्गत होने पर भी उसकी प्रधान चर्चा द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में है। वहाँ मृदादि दृष्टान्तों द्वारा कार्य-कारण-अनन्यत्व न्याय से सिद्ध किया गया है कि ‘जगत् ब्रह्म ही है, लेकिन ब्रह्म जगत् से अलग है।’ इससे सत्य-ज्ञान-अनन्त लक्षणों वाले ब्रह्म का एकत्व सिद्ध होता है। और ब्रह्मनिमित्तत्व के बारे में:-‘ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्त है इस यथोक्त लक्षणवाले आत्मा के ज्ञान के लिये ही ब्रह्म में अनेक होना, सृष्टि में अनुप्रवेश करना, आनन्द की प्राप्ति, अभय और संक्रमणादि संपूर्ण व्यवहार की कल्पना की गयी है- **‘सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म इति यथोक्तलक्षण आत्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवन सर्गप्रवेश-रसलाभ-अभय-संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वं व्यवहार विषये’** (तै.भा.२.८.५)। इस प्रकार, ब्रह्मात्मैकत्वप्राप्ति के लिये, ब्रह्म को समझाने के प्रथम स्तर में ब्रह्म स्वरूप में न रहने वाले व्यवहार को उसमें कल्पित करते हैं। यह शास्त्रकल्पना ही अध्यारोप है, जिसके द्वारा ब्रह्म को समझते ही अध्यारोप का अपवाद हो जाता है।

शंका:—यदि ऐसा है तो अध्यारोपित व्यवहार अविद्याकल्पित हुआ न?

समाधान:—नहीं! अविद्याकल्पित का अर्थ पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। जैसे जगत् ब्रह्म ही है इसलिये अविद्याकल्पित नहीं हो सकता, उसी प्रकार ब्रह्मप्रकृतिकव्यवहार भी

अविद्याकल्पित नहीं हो सकता। यह कह चुके हैं कि पारमार्थिक रूप से व्यवहार भी सत्य है (छां. भा. ७.२६.१) 'न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्'-कुछ भी कभी भी असत् नहीं (छा.भा. ६.२.३)-इसको कभी नहीं भूलना चाहिये।

'लेकिन सन्मात्र ब्रह्म में बहुभवनादि व्यवहार कैसे होगा?' श्रुतिमात्र से ही समझ में आने वाले इस विषय पर लौकिक तर्क का आश्रय लेकर प्रश्न उठाना ठीक नहीं है। 'सदेव सोम्येदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयं.....तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'-हे सोम्य! आरम्भ में यह (जगत्) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस सत् ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊं-अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं'। उसने तेज उत्पन्न किया (छा.६.२१.१-३)। इस प्रकार जब श्रुति कह रही है, तो उसको उसी प्रकार समझना है। 'यत् तु उक्तं परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्!.....आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्!.....को अब्दा वेद क इह प्रवोचत्, इयं विसृष्टिर्यत आबभूव इति चेते ऋचौ सिद्धानाम् अपि ईश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः.....न अनेन मिषेण शुष्कतर्कस्य अत्र आत्मलाभः संभवति'-जो यह कहा गया है कि सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का संभव होगा, वह भी मनोरथमात्र है। ब्रह्म तो धर्म के समान केवल आगममात्र से अधिगम्य है। यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न हुयी है 'कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता है?' (ऋ.स.१/३०/६), ये दोनों ऋचाएं जगत् के कारण के विषय में सिद्ध ईश्वरों का भी दुर्विज्ञेयत्व दिखलाती हैं। (अन्य प्रमाणों की संभावना को बताने वाले श्रुतिवचन) के बहाने यहाँ शुष्क तर्क का होना संभव नहीं है' (सू. भा. २.१.६)।

(२) ब्रह्म जगत्कारणत्व को आगे बढ़ाकर, तद्विरुद्ध मतों के खण्डन के बाद ब्रह्मसूत्र सृष्टिक्रम की चर्चा करते हैं। तत्पश्चात् त्वं पदार्थ की चर्चा है। जगद्व्यवहार से आरंभ करके उसके (जगत् के) स्वरूप को जैसे ब्रह्म निश्चय करते हैं, उसी प्रकार जीव के कर्तृत्व आदि से आरंभ करके फिर उसके स्वरूप को समझाते हैं। इसलिये, पहले कर्ता जीव का विषय और फिर उसके अनन्तर तृतीयाध्याय द्वितीय पाद में सर्वलोकप्रसिद्ध अवस्थात्रय के महातर्क से त्वं पदार्थ प्राज्ञ का निर्णय होता है। जीव नहीं जानता कि वह स्वयं कौन है। यह समझाने के लिये 'मैंने उस समय कुछ नहीं जाना, सुख से सोया' उसके इस कथन का विश्लेषण किया जाता है। सुषुप्ति में विशेषज्ञान के अभाव का और आनन्द का कारण ब्रह्म से एकत्व ही है। इससे प्राज्ञ का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है। इस विचार के मनन और निदिध्यासन से 'तत् त्वम् असि'-वह आप ही हैं, यह

समझना ही आत्मज्ञान है। यह प्रकट होता है बुद्धि में। ब्रह्म सर्वात्मक है। इसलिये, जाग्रत् और स्वप्न में यह ज्ञान सर्वात्मभाव के रूप में ही प्रकट होता है। उससे आगे का ग्रन्थभाग विद्यासाधनाओं की, मोक्षफल में कर्मनाश की, और पुण्यपापनाश इत्यादि की चर्चा करता है।

(३) ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं। वे हैं क्रम से:—समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय। हर अध्याय में चार पाद हैं, और हर पाद में अनेक अधिकरण हैं, जिनकी कुल संख्या १९२ है। हर अधिकरण में कई सूत्र हैं (कुछ अधिकरण एक-एक सूत्र वाले भी हैं)। कुल सूत्रों की संख्या ५५५ है। प्रत्येक अधिकरण में पांच अंश रहते हैं:—

- क. संगति: पिछले विषय से इसका सम्बन्ध। अध्यासभाष्य ही प्रथम सूत्र की संगति है।
- ख. विषय: चर्चा के लिये लिया हुआ विचार।
- ग. संशय: जहाँ संदेह होता है वहीं चर्चा होती है। यह संदेह प्रस्तुत करनेवाला भाग है।
- घ. पूर्वपक्ष: सिद्धान्त का विरोध करने वाले का आक्षेप।
- ङ. सिद्धान्त: आक्षेप का निवारण करके निश्चित किया हुआ स्वपक्ष।



Maha P...

जिज्ञासाधिकरण

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य इदम् आदिमं सूत्रम्।

जिस वेदान्त-मीमांसाशास्त्र की हम व्याख्या करना चाहते हैं, उसका यह प्रथम सूत्र है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१.१.१)

अथ-अनन्तर; अतः-इसलिये; ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्म जिज्ञासा

१. तत्र अथ शब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते न अधिकारार्थः। ब्रह्मजिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्। मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तर एव हि अथशब्दः श्रुत्या मंगल प्रयोजनो भवति।

१. यहाँ अथ शब्द का आनन्तर्यार्थ किया जाता है आरंभ नहीं, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का आरंभ नहीं किया जा सकता। और मंगल का वाक्यार्थ में समन्वय नहीं होता। इसलिये, अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ ही 'अथ' शब्द श्रवणद्वारा मङ्गल का प्रयोजक होता है।

किसी भी ग्रन्थ के आरम्भ में विषय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारी, इस अनुबंधचतुष्टय का निरूपण किया जाता है। यहाँ विषय ब्रह्म है। प्रयोजन है मोक्ष। इसकी प्राप्ति के लिए जिज्ञासा में प्रवृत्ति पैदा करने वाला ही अध्यासभाष्य है। ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्म और मोक्ष का संबन्ध है; और साधनचतुष्टयसंपन्न ही अधिकारी है। यह सब इस पहले सूत्र के भाष्य में निश्चित किया गया है।

(१.१) अथ शब्द के चार अर्थ-आरंभ, मंगल, पूर्वप्रकृतापेक्षा और अनन्तर का विचार किया गया है। यहाँ किस अर्थ को लेना है? व्याकरण शास्त्र में 'अथशब्दानुशासनम्', कहा गया है। योगशास्त्र ने भी 'अथ योगानुशासनम्', इस प्रकार अपने पहले सूत्र में अथ शब्द का अर्थ 'आरंभ' किया है। क्या यहाँ भी 'ब्रह्म जिज्ञासा का आरंभ' ऐसा अर्थ करना है? नहीं। क्योंकि ज्ञातुम् इच्छा-जिज्ञासा, जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा है। ये या तो रहती है या नहीं रहती; 'इच्छा का आरंभ करना' ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं है।

मंगल अर्थ करना भी उचित नहीं है क्योंकि 'अथ ब्रह्मजिज्ञासा-मंगल ब्रह्मजिज्ञासा' ऐसा कहने पर वाक्य के अर्थ से समन्वय नहीं होगा; दो अलग-अलग वाक्य ही हो जायेंगे। 'लेकिन शिष्टाचारपालन के लिये ग्रंथारंभ में मंगलाचरण आवश्यक है न?' ऐसा पूछ तो ठीक है, आवश्यक है, परन्तु अथ शब्द का प्रयोग और किसी अर्थ में हो तो भी उसके श्रवणमात्र से ही मंगल हो जाता है। इसमें स्मृति प्रमाण है:

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुमौ॥

सृष्टि के आदि काल में, 'ओंकार' और 'अथ' ये दोनों ब्रह्माजी के कण्ठ से प्रथम निकले हैं, इसलिये दोनों ही मांगलिक हैं।

२. पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनंतर्याव्यतिरेकात्। सति च आनंतर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेन अपेक्षते एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत् पूर्ववृत्तं नियमेन अपेक्षते तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्।

२. पहले प्रकृत (धर्मजिज्ञासा) की अपेक्षा से effectively उसका आनन्तर्य से भेद नहीं है। 'आनन्तर्य' अर्थ होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा नियम से पूर्व में होने वाले वेदाध्ययन की अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा भी नियम से पूर्व में रहने वाली जिस वस्तु की अपेक्षा रखती है, उसे कहना चाहिये। स्वाध्याय का आनन्तर्य तो धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा, दोनों में समान है।

(२.१) 'पूर्वप्रकृतापेक्षायाः'—पहले प्रकृत हुयी धर्मजिज्ञासा की अपेक्षा से। पहले कुछ लोग 'धर्मजिज्ञासानन्तर ब्रह्मजिज्ञासा' इस अर्थ में अथ शब्द का आनन्तर्य कहते थे। इस कथन में 'अनन्तर' तो स्वीकार्य है, लेकिन 'धर्मजिज्ञासानन्तर' यह कथन स्वीकार्य नहीं। इसका कारण चौथे सूत्र 'तत्तु समन्वयात्' में स्पष्ट होगा। इसलिये आनन्तर्य अर्थ में उनसे विरोध नहीं। धर्मजिज्ञासा से पूर्व वेदाध्ययन आवश्यक है। उसी प्रकार, ब्रह्मजिज्ञासा के पूर्व भी क्या होना चाहिये यह अब बताना है। बाद में कहा जायेगा कि ब्रह्मजिज्ञासा के लिये भी पहले वेदाध्ययन होना ही चाहिये। धर्मजिज्ञासा के लिये संहिता और ब्राह्मण, और ब्रह्मजिज्ञासा के लिये आरण्यक और उपनिषद आधार होते हैं। तो भी, वेदाध्ययन में चारों ही समाविष्ट हैं।

शंका:—यदि ऐसा है तो, जो वेदाध्ययन के लिये अधिकारी नहीं, उनको ज्ञानप्राप्ति कैसे होगी?

समाधान—उनको पुराण-इतिहास से होगी (ब्र.सू. १.३.३४-३८)। उन पर पुरुषसामान्य को अन्वय होने वाले जप, उपवास, देवताराधन आदि धर्मविशेषों के कारण विद्या का अनुग्रह होता है—'पुरुषमात्रसम्बन्धिभिः जपोपवासदेवताराधनादिभिः धर्मविशेषैः अनुग्रहः विद्यायाः सम्भवति' (सू.भा. ३.४.३८)।

३. नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः? न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि अधीत वेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानाम् आनन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षितत्वात्, न तथा इह क्रमो विवक्षितः। शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावत्।

३. यदि कहो कि इसमें कर्मज्ञान का आनन्तर्य विशेष है, तो ऐसा नहीं है। जिसने वेदान्त का अध्ययन किया है, उसे धर्मजिज्ञासा के पूर्व में भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। और जैसे हृदय आदि के अवदान में आनन्तर्य का नियम है, क्योंकि क्रम की विवक्षा है, वैसे यहाँ क्रम की विवक्षा नहीं है। धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में शेषशेषिभाव अथवा अधिकृताधिकार मानने में प्रमाण नहीं है।

(३.१) ऊपर 'पूर्वप्रकृतापेक्षायाः आनन्तर्य' के विषय में कहते समय 'धर्म-जिज्ञासानन्तर' इतना कहकर जिसे छोड़ दिया था, अब उस पूर्वपक्ष की चर्चा को उठा रहे हैं। 'धर्म-ब्रह्म जिज्ञासा दोनों के लिये, पहले वेदाध्ययन होना आवश्यक है। संहिताओं से कर्मावबोध होने के बाद', अर्थात् 'धर्मजिज्ञासा से कर्मज्ञान को पाने के बाद, उपनिषदों से ब्रह्मजिज्ञासा होती है'; इस विशेष से अथ को क्या आनन्तर्य अर्थ में कह सकते हैं?' यह पूर्वपक्ष है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि ऐसा कुछ नहीं है। वेदान्त का, यानी उपनिषदों का अध्ययन जिसने किया है, उसे धर्मजिज्ञासा से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। इस के समर्थन में भाष्यकार तीन कारण देते हैं:-

पशुबलि में 'हृदयस्य अग्रे अवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' -पहले हृदय के अग्र भाग को काटना है, फिर जीभ को और फिर छाती को (तै. सं. ६.३.१०.१०) - यह क्रम बताया गया है। धर्म-ब्रह्म जिज्ञासाओं में इस प्रकार का क्रम नहीं कहा गया है। इसके प्रमाण में जाबाल श्रुति कहती है कि बिना गृहस्थ बने ही सीधा ब्रह्मचर्य से संन्यास ले सकते हैं (जा. उ. ४); अर्थात्, गृहस्थाश्रम में होनेवाले कर्मज्ञान से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा कर सकते हैं।

इससे आगे बताते हैं कि शेषशेषित्व के लिये भी प्रमाण नहीं है। शेष होता है अंगकर्म; बिना अंगकर्म के अंगीकर्म अपूर्ण होता है। इस प्रकार के अंग-अंगीत्व, शेष-शेषित्व के लिये धर्मब्रह्मजिज्ञासाओं में प्रमाण नहीं है। उसी प्रकार अधिकृत-अधिकार के लिये भी प्रमाण नहीं हैं। अधिकृत माने जिसका उस कर्म में अधिकार है। अंगीकर्म के लिये जो अधिकृत है, उसी का अंगकर्म में भी अधिकार है। उदाहरण के लिये, दर्शपूर्णमासयाग के लिये गोदोहन में अप्प्रणयन करना अंगकर्म है। इसका विवरण इस प्रकार है:-चमस नामक लकड़ी का एक पात्र होता है। इसमें अप् (जल) भरना अप्प्रणयन कहलाता है। दर्शपूर्णमास करने के लिये जो अधिकृत है, वह यदि पशुकामी हो तो उसे अप्प्रणयन् गोदोहन (गोक्षीर निकालने के पात्र) में करना होता है। दर्शपूर्णमास में जो अधिकृत होता है वही गोदोहन में अप्प्रणयन करने का अधिकारी होता है, और कोई नहीं। इस प्रकार की अधिकारिता में यानी कि, 'जो कर्म में अधिकृत है वही ब्रह्मज्ञान का भी अधिकारी है', कोई प्रमाण नहीं है।

४. धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्य भेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तच्च

अनुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्, न च अनुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यः न ज्ञानकाले अस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं, नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्।

४. धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनों के फल और विषय में भेद है। धर्म के ज्ञान का फल अभ्युदय है और वह अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है। ब्रह्मज्ञान का फल तो मोक्ष है और उसे अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है; धर्मजिज्ञासा का विषय जो धर्म है वह उत्पन्न होने वाला है; वह ज्ञानकाल में नहीं है क्योंकि वह पुरुष व्यापार के अधीन है। जिज्ञासा का विषय जो ब्रह्म है, वह नित्य होने के कारण पुरुषव्यापार के अधीन नहीं है।

(४.१) अब धर्मजिज्ञासा से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है, इसका दूसरा कारण बतलाते हैं। उदाहरण के लिये, धर्मजिज्ञासा से ज्योतिष्टोमयाग कर्म के ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसका जो फल है वह पुरुषव्यापाराधीन है; अर्थात्, कर्मज्ञानमात्र से फल नहीं है; यागकर्माचरण के बाद ही फलप्राप्ति होती है। यह फल कर्म समाप्त होते ही नहीं मिलता है, प्रतीक्षा करनी पड़ती है। बाद में मिलने वाला फल अनित्य भी है। लेकिन ब्रह्मजिज्ञासा इससे पूर्णतया विलक्षण है। इसका फल मोक्ष पुरुषव्यापाराधीन नहीं है; अर्थात्, ब्रह्मज्ञान प्राप्त्यनन्तर मोक्ष किसी अनुष्ठान से मिलनेवाला नहीं है, ज्ञानप्राप्ति समकाल में ही मिल जाता है, प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। यह फल नित्य भी है। इसलिये, श्रुतिप्रमाणसिद्ध इस भेद को जानने वाला मुमुक्षु धर्मजिज्ञासा में आसक्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि ' धर्म जिज्ञासानन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है' यह कथन स्वीकार्य नहीं है।

५. चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम्, सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषम् अवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषम् अवबोधयत्येव केवलम्। अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथा अक्ष-अर्थ सन्निकर्षेण अर्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यते इति।

५. चोदनाओं (वेदवाक्यों) की प्रवृत्ति के भेद के कारण भी। जो वेदवाक्य धर्म में प्रमाण हैं वे पुरुष को स्वविषय (धर्म) में प्रवृत्त कराते हुये ही बोध कराते हैं। ब्रह्मचोदना तो पुरुष को बोधमात्र ही कराते हैं। अवबोध चोदना से ही हो जाने से, वे पुरुष को बोध में प्रवृत्त नहीं करते। जैसे इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से ही पदार्थज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार। इसलिये, जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश किया जाता है, उसको कहना चाहिये।

(५.१) अब तीसरा कारण बतलाते हैं—

यहाँ चोदना का अर्थ है वेदवाक्य। लक्षण का अर्थ है प्रमाण। धर्म में जो वेदवाक्य प्रमाण हैं वे पुरुष को विधि-निषेध में चोदित करते हैं। लेकिन ब्रह्मबोधक उपनिषदवाक्य ब्रह्म और ब्रह्म-आत्मा के सम्बन्ध को समझाने के अलावा पुरुष को कहीं प्रवृत्त नहीं करते-प्रचोदन नहीं करते। असल में तो किसी भी ज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होती। उदाहरण के लिये, आंख 'यह रूप है', इस प्रकार समझाने के अलावा पुरुष को किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं करती।

भाष्यकार इस प्रकार इन तीन कारणों से सिद्ध करते हैं कि धर्मब्रह्मजिज्ञासा इसी क्रम में होने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

इस संबन्ध में कुछ और आक्षेप एवं समाधान इस प्रकार हैं:-

आक्षेप:- 'तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'-इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं (बृ. ४.४.२२)। 'न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यम् पुरुषः अश्नुते'-कर्मों का आरंभ किये बिना (अर्थात् न करने से) पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं करता (गीता ३.४)। इस प्रकार, श्रुति-स्मृति में कर्मानन्तर ही ज्ञान का अधिकार बताया गया है। और कुछ नहीं तो कम से कम जब तक हम कर्म नहीं करेंगे तब तक हमें कर्मफल की अनित्यता कैसे समझ आयेगी?

परिहार:- ऐसा नहीं है। गतजन्मों में किये हुये कर्मानुष्ठान द्वारा ही, इस जन्म में पुनः कर्म न करके, ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी हो सकता है।

आक्षेप:- परन्तु कम से कम देव-ऋषि-पितृ ऋणत्रय को चुकाना तो हमारा कर्तव्य है न?

परिहार:- ऐसा नहीं है। इन ऋणों को चुकाना गृहस्थ के लिये कर्तव्य है। पीछे उद्धृत जाबाल श्रुति के अनुसार ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास के लिये अनुमति होने के कारण यह कर्तव्यपूर्ति ज्ञानाधिकार के लिये अनिवार्य नहीं है।

आक्षेप: छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित उद्गीथ उपासनाओं में ब्रह्मदृष्टि का विधान किया गया है। यह दृष्टि ब्रह्मजिज्ञासा से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मोपासना की अंग ही हो गयी न?

परिहार:- इन उपासनाओं में जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह सगुण ब्रह्म है। यह ठीक है कि सगुणब्रह्मोपासना निष्काम भाव से करने पर चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होती है; लेकिन, इस सूत्र में कहा हुआ ब्रह्म निर्गुण ही है (जिसका निर्णय द्वितीयाध्याय में होता है)। निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान कर्मांग नहीं हो सकता, यह हमें चौथे सूत्र के भाष्य में स्पष्ट होगा।

इस प्रकार निर्णय होता है कि 'धर्मजिज्ञासानन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है' ऐसा कहने में प्रमाण

नहीं है। लेकिन, 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ तो स्वीकारा ही गया है। इसलिये, प्रश्न उठता है कि ब्रह्मजिज्ञासा किसके अनन्तर होती है? इस प्रश्न का उत्तर है:-

६. उच्यते, नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोगविरागः शमादिसाधन संपत् मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासायाः ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मात् अथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यम् उपदिश्यते।

६. (उसको) बतलाते हैं-नित्य और अनित्यवस्तु का विवेक, इस लोक और परलोक में विषयभोग के प्रति विराग, शम, दम आदि साधनसम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। इतना होने पर धर्मजिज्ञासा के पहले या बाद में भी ब्रह्मज्ञान की इच्छा हो सकती है और (ब्रह्म) ज्ञान भी हो सकता है। इन (चार साधनों) के बिना नहीं हो सकते। इसलिये, 'अथ' शब्द पूर्वोक्त साधनसम्पत्ति से आनन्तर्य का उपदेश करता है।

७. अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्मात् वेद एव अग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानाम् अनित्यफलतां दर्शयति "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" (छां. ८.१.६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. २.१) इत्यादिः। तस्मात् यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।

७. 'अतः' शब्द हेतुवाचक है। 'जैसे यहाँ (खेती आदि से उपार्जित) भोग्यपदार्थ क्षीण हो जाते हैं, उसी प्रकार परलोक में पुण्य से सम्पादन किये हुये लोकों का क्षय हो जाता है' (छान्दोग्य ८.१.६), इत्यादि श्रुतिवाक्य कल्याण के साधक अग्निहोत्र आदि के फल (स्वर्ग आदि) की अनित्यता दर्शाते हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्म को जानने वाला मोक्ष प्राप्त करता है' (तै. २.१) इत्यादि श्रुतियां ब्रह्मज्ञान से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति बताती हैं। इसलिये, उपर्युक्त साधनसम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।

(७) कुछ स्थलों पर श्रुति में कहा गया है कि 'सोमपान करके मरणरहित हो गये' इत्यादि; इससे लगता है कि स्वर्गादि फल नित्य हैं। वेद ही बाद में कहता है कि वह अनित्य है। यहाँ नित्य कहा है कर्म के स्तुत्यर्थ में। परन्तु श्रुति ही कहती है कि ब्रह्मविज्ञान से होनेवाला मोक्ष नित्य है। इसलिये, साधन संपत्त्युपेत साधक ही ब्रह्मजिज्ञासा कर सकता है।

८. ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाण लक्षणम् "जन्माद्यस्य यतः" इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरम् आशङ्कितव्यम्।

८. ब्रह्म की जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है। आगे 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र में जिसका लक्षण कहा जायेगा, वह ब्रह्म है। इसी कारण से यह शंका नहीं करनी चाहिये कि 'ब्रह्म' शब्द का जाति आदि कोई दूसरा अर्थ है।

(८.१) ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण जाति, चतुर्मुख ब्रह्माजी, वेद, जीव आदि अर्थ भी श्रुति, स्मृति में मिलता है। यहाँ ब्रह्मशब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं हुआ है। जगत् के जन्म, स्थिति और लय के कारणरूप में ही हुआ है।

९. ब्रह्मणः इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वात् जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तर अनिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, संबंध सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्? एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वम् उत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः, ब्रह्माश्रित अशेषविचार-प्रतिज्ञानार्थत्वात् इति चेत्? न। प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानाम् अर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेन आप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासा कर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तानि अर्थाक्षिप्तान्येव इति न पृथक् सूत्रयितव्यानि। यथा "राजासौ गच्छति" इत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनम् उक्तं भवति, तद्वत्।

९. 'ब्रह्मणः' यह कर्मवाचकषष्ठी है, शेषवाचकषष्ठी नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य की अपेक्षा रहती है और (ब्रह्म के सिवा) दूसरे जिज्ञास्य का निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा कहो कि शेषषष्ठी के ग्रहण करने में भी ब्रह्म के जिज्ञासा का कर्म होने में कुछ विरोध नहीं है; क्योंकि जो सम्बन्धसामान्य का वाचक है, वह विशेषसम्बन्ध को भी दिखलाता ही है? तो इस प्रकार भी ब्रह्म के प्रत्यक्ष कर्मत्व को छोड़ कर सामान्यसम्बन्ध द्वारा परोक्ष कर्मत्व की कल्पना करने में व्यर्थ प्रयास होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के आश्रित सब पदार्थों के विचार की प्रतिज्ञा करना प्रयोजन है? तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि प्रधान का परिग्रह होने पर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले सब पदार्थों की अर्थतः स्वीकृति हो जाती है। ज्ञान से प्राप्त करने के लिए इष्टतम (अत्यन्त इष्ट) ब्रह्म है, अतः वह प्रधान है। जिज्ञासा के कर्म उस प्रधान का ग्रहण होते ही जिनकी जिज्ञासा हुए बिना ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती, उन सबकी अर्थतः स्वीकृति हो ही जाती है, इसलिए सूत्र में उनको अलग कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे 'यह राजा जाता है' ऐसा कहने से ही परिवारसहित राजा के गमन का कथन हो जाता है, इसके अनुसार।

(९.१) ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा-जानने की इच्छा जिज्ञासा है। 'ब्रह्मणो जिज्ञासा' में 'ब्रह्मणः-ब्रह्म की' इस प्रकार षष्ठी विभक्ति है। षष्ठी विभक्ति दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकती है। एक:- ब्रह्म से सम्बन्धित विषयों को जानने की इच्छा। इसको कहा जाता है शेषषष्ठी। दूसरा- सीधा ब्रह्म को ही जानने की इच्छा-यह है कर्मषष्ठी। इस सूत्र में कौन सी षष्ठी को लेना है? अर्थात्, जिज्ञासा का कर्म क्या ब्रह्म से संबंधित विषय है? या स्वयं ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय है? ऐसा पूछने पर कहते हैं-

पूर्वपक्षी:-शेषषष्ठी में ब्रह्म से संबंधित सब कुछ ही चर्चा में आ जाता है। इसलिये उसमें ब्रह्म भी सम्मिलित है ही। अतः यहाँ शेषषष्ठी को ही रखना उचित है।

सिद्धान्ती:-यह ठीक है। फिर भी शेषषष्ठी में प्रामुख्यता तो ब्रह्मसंबंधी विषयों के ज्ञान की ही हो जाती है और ब्रह्म का ज्ञान गौण हो जाता है। लेकिन कर्मषष्ठी में ऐसा नहीं है; इसमें प्रामुख्यता ब्रह्मज्ञान की ही होगी और ब्रह्मसंबंधी विषयों का सम्बन्ध गौण होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मसम्बन्धी विषयों का ज्ञान छूट जाता है। बल्कि ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मसम्बन्धी विषयों का ज्ञान भी हो ही जाता है; इसलिए व्यर्थ प्रयास से बच सकते हैं। लेकिन ब्रह्मसम्बन्धी विषयों के ज्ञान से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। यहाँ ब्रह्मसंबंधी विषय क्या है? जगत् ही ब्रह्मसंबंधी विषय है। भाष्यकार के दृष्टान्त में ब्रह्म राजा है तो, जगत् की वस्तुएँ उसका परिवार है। बृहदारण्यभाष्य में भाष्यकार इसको ऐसे समझाते हैं:-

पूर्वपक्षी: किन्तु ज्ञात न होने में समान होने के कारण, आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञातव्य हैं। फिर 'आत्मेत्येवोपासीत' इस कथन के अनुसार आत्मोपासना में ही क्यों यत्न करने की आस्था की जाये, अनात्मोपासना में क्यों नहीं?

सिद्धान्ती: इस पर हमारा कथन है कि यह प्रकृत आत्मा ही पदनीय, अर्थात् गन्तव्य है, अन्य अनात्मा नहीं। श्लोक में आये 'अस्य सर्वस्य' है इन पदों में निश्चयार्थिका षष्ठी है; इसका तात्पर्य है 'अस्मिन् सर्वस्मिन्' (इस सब में)। 'यदयात्मा' का अर्थ होता है जो यह आत्मतत्त्व है (वह सबमें है)।

तो क्या अन्य (अनात्मा) ज्ञातव्य नहीं है? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है? ज्ञातव्य होने पर भी उसे जानने के लिये आत्मज्ञान से भिन्न कोई अलग ज्ञान नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये? क्योंकि इस आत्मा को जान लेने पर अन्य जो कुछ अनात्मजात है, उस सबको पुरुष जान लेता है।

अनिर्ज्ञातित्वसामान्यात् आत्मा ज्ञातव्यः अनात्मा च। तत्र कस्मात् आत्मोपासने एव यत्न आस्थीयते 'आत्मेत्येवोपासीत' इति, न इतर विज्ञाने इति? अत्र उच्यते-तद् एतद् एव प्रकृतं पदनीयं गमनीयं न अन्यत्। 'अस्य सर्वस्य' इति निर्धारणार्था षष्ठी। अस्मिन् सर्वस्मिन् इति अर्थः। 'यदयमात्मा' यदेतदात्मतत्त्वम्। किं न विज्ञातव्यम् एव अन्यत्? न। किं तर्हि, ज्ञातव्यत्वे अपि न पृथग्ज्ञानान्तरम् अपेक्षते आत्मज्ञानात्। कस्मात्? अनेनात्मना ज्ञातेन हि यस्माद् एतत् सर्वम् अनात्मजातम् अन्यद् यत् तत् सर्वं समस्तं वेद जानाति (बृ.भा. १.४.७)।

[यहाँ कथित आत्मा प्राज्ञ है जो ब्रह्म ही है और अनात्मा कार्यजगत् भी ब्रह्म है। इन दोनों का अनिर्जातत्वसामान्य ही दोनों ओर से होनेवाले अध्यास का हेतु है। यह भी स्पष्ट होता है कि अनात्मा मिथ्या नहीं हो सकता। कार्यजगत् का अनात्मत्व अविद्याकल्पित है—‘अविद्ययैव अनात्मत्वं परिकल्पितं, न तु परमार्थतः आत्मव्यतिरेकेण अस्ति किञ्चित्’ (बृ. भा. २.४.१४)]। इसलिये, ब्रह्म से संबंधित विषयों का ज्ञान इष्टतम नहीं है, ब्रह्मज्ञान ही इष्टतम है। इस प्रकार, ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मसंबंधित विषयों का ज्ञान भी हो जाने के कारण सूत्र उनको पृथक् नहीं समझाता।

सूत्र का लक्षण ये कहा गया है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमनवद्यच्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

‘बिना अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किये, सारवत्, अलग अलग दृष्टिकोणों से विचार करने के लिये अवकाश देने वाला, निर्दोष रूप से, अल्पाक्षरों में निस्संदिग्ध रूप से विषय समझाने वाला सूत्र कहा जाता है।

१०. श्रुत्यनुगमाच्च। “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” (तै. ३. १) इत्याद्याः श्रुतयः “तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म” (तै. ३. १) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेण अनुगतं भवति। तस्मात् ब्रह्मणः इति कर्मणि षष्ठी।

१०. ‘यतो वा०’ (जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ ‘तद्विजिज्ञासस्व०’ (उसकी जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म ही जिज्ञासा का कर्म है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाती है और कर्मवाचकषष्ठी मानने से ही सूत्र के अनुसार होती है। इसलिए, ‘ब्रह्मणः’ यह कर्मवाचकषष्ठी है।

११. ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म। फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुं इष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः। निःशेष-संसारबीज-अविद्यादि-अनर्थ-निर्बर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

११. जानने की इच्छा-जिज्ञासा है। अवगतिपर्यन्त ज्ञान सन्वाच्य इच्छा का कर्म है, क्योंकि इच्छा का विषय फल है। ब्रह्म की अवगति ज्ञानप्रमाण से इष्ट है। ब्रह्म की अवगति ही पुरुषार्थ है। क्योंकि उससे निःशेष संसार की बीजरूप अविद्या आदि अनर्थों का नाश होता है। इसलिये ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

(११.१) जिज्ञासा का अर्थ है 'ज्ञातुम् इच्छा-जानने की इच्छा'। जिज्ञासा में जो 'सा' है वह सन् प्रत्यय है। सन् प्रत्यय इच्छावाचक होता है और यहाँ इच्छा का कर्म ज्ञान है। आरंभ में ही कहा गया है कि विषय के अनुसार बुद्धि में उत्पन्न होने वाला प्रत्यय ही ज्ञान है। हरेक परिच्छिन्न विषय का ज्ञान इस प्रकार तदनुसार बुद्धिप्रत्यय रूप में ही समाप्त होता है। इतना कहने के बाद ब्रह्मज्ञान के विषय में उठने वाली समस्या यह है कि ब्रह्म का कोई आकार नहीं है; तो फिर ब्रह्मज्ञान बुद्धि में कैसे प्रकट हो सकता है? इस आक्षेप का समर्थन सा करती हुयी श्रुति भी कहती है '**अप्राप्य मनसा सह**'-ब्रह्म मन से भी अप्राप्य है (तै २.४)। परन्तु, एक और श्रुति कहती है '**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**'-ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिये (बृ.४.४.१९)। ये दोनों वाक्य परस्परविरुद्ध हैं। इनके समन्वय से ही भाष्यकार कथित '**अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छयाः कर्म**'-अवगतिपर्यन्तं ज्ञान ही सन्वाच्य इच्छा का कर्म है, इस वाक्य में अवगति पद का अर्थ निश्चय होगा। इस समन्वय का क्रम इस प्रकार है:-

(११.२) बुद्धि सदा असत्य-जड़-परिच्छिन्न वस्तुओं का ज्ञान पाने में व्यस्त रहती है। इसलिये वह मलिन, अस्वच्छ और स्थूल हो जाती है। ऐसी बुद्धि के लिये सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म अप्राप्य ही है। लेकिन, साधन-संपत्तियुक्त साधक की बुद्धि जब ब्रह्म के समान निर्मल-स्वच्छ-सूक्ष्म हो जाती है तब उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात्, उसकी बुद्धि ब्रह्म की तरह निराकार और निष्प्रचार (वृत्तिरहित) हो जाती है (गीता. भा. ६.२०)। '**अत्यन्तनिर्मलत्व अतिस्वच्छत्व अतिसूक्ष्मत्व उपपत्तेः आत्मनः बुद्धेः च आत्मसमनैर्मल्याद् उपपत्तेः आत्मचैतन्याकाराभासत्व उपपत्तिः**'-आत्मा अतिनिर्मल, अतिस्वच्छ और अतिसूक्ष्म है। आत्मा के ही समान निर्मल, स्वच्छ और सूक्ष्म बुद्धि आत्मचैतन्य के आकार से आभासित हो सकती है (गी. भा. १८.५०)। यहाँ कथित आत्मा ब्रह्म ही है। इस प्रकार की निष्प्रचार बुद्धिवृत्ति ही ब्रह्म का ज्ञान है। '**अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितं...ज्ञानं...ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणा अभिन्नं...सत्यं ज्ञानं अनन्तम् इत्यादि श्रुतिभ्यः**'-सर्वकल्पनारहित...ज्ञानं...परमार्थसद्रूप ज्ञेय ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म इत्यादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है (मां. का. भा. ३.३३)।

अब अवगति (अनुभव) क्या है और ब्रह्मज्ञान से अवगति की प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह समझना शेष है।

(११.३) इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये भाष्यवाक्य '**ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म**'-ज्ञान प्रमाण से ब्रह्म की अवगति इष्ट है-मार्ग दिखाता है। अवगति का अर्थ है 'मैं स्वयं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अनुभव। यहाँ निष्प्रचार ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति को ब्रह्मवगति में प्रमाण कहा गया है। इस प्रमाण का प्रमेय क्या है? इसका प्रमाता कौन है? प्रमेय तो ब्रह्म ही हो सकता है क्योंकि सत्य-ज्ञान-अनन्त लक्षणों के आधार पर जब ब्रह्म को समझने लगता है तभी यह असाधारण बुद्धिप्रत्यय प्राप्त होता है। यह प्रत्यय कम से कम तत् काल में तो सत्य ही है अर्थात् विकाररहित है; अनन्त है अर्थात् परिच्छिन्न नहीं है। केवल सत्य और अनन्त ही नहीं इसमें ज्ञानलक्षण भी है।

प्रश्न: उसमें ज्ञानलक्षण भी है यह कैसे कह सकते हैं?

उत्तर: परिच्छिन्न वस्तुओं के ज्ञान में विशेषण और विशेष्य, ये दोनों रहते हैं। उदाहरण के लिये, घट के ज्ञान में घट विशेषण है और 'ज्ञान' विशेष्य है। विशेषज्ञान में विषय के अनुसार विशेषण बदलते रहते हैं; इसलिये विशेषज्ञान असत्य है। जब कोई विशेषण नहीं रहता तो एक अकेला विशेष्यज्ञान ही बच जाता है। यही ब्रह्म का अद्वितीयलक्षण ज्ञान यानि ज्ञप्ति है (तै.भा.२.१)। ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति निर्विशेष होने के कारण वह यह ज्ञान (विशेष्य ज्ञान) ही है। इस प्रकार, ब्रह्माकाराभास इस निष्प्रचार निर्विशेष बुद्धिवृत्ति का प्रमेय ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय हो जाता है। 'ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्म ज्ञेयम्'-जो ब्रह्म अपने को ज्ञेय है वह ज्ञेयब्रह्म है (मा. का. भा. ३.३३)। अब प्रश्न है कि प्रमाता कौन है। उत्तर है कि जिस बहिष्प्रज्ञ जिज्ञासु में यह बुद्धिवृत्ति पैदा होती है वही प्रमाता है।

(११.४) अब प्रश्न उठता है कि अवगति क्या है? ब्रह्मात्मैकत्व अनुभव ही अवगति है। उपर्युक्त ज्ञान ही इसका प्रमाण है। इसमें प्रमाता स्वयं ही है और प्रमेय ब्रह्म है; इसलिये, इस प्रमाता-प्रमेय व्यवहार में एकत्व नहीं है। एकत्वप्राप्ति का क्रम इस प्रकार है:-ब्रह्म सदा ज्ञप्ति ही है; लेकिन, ब्रह्माकाराभासवृत्तिज्ञान बुद्धि में पैदा होनेवाला ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है-ज्ञप्ति आभास है, ज्ञप्ति ही नहीं है। वह सदा उसी प्रकार नहीं रहता इसलिये असत्य है। अतः, उसको 'मैं' समझना सम्यग्ज्ञान नहीं है। और प्रमाता के लिये प्रमेय ब्रह्म को स्वयं समझना दुस्साध्य भी है। लेकिन स्वयं के और प्रमेय ब्रह्म के बीच में रहनेवाला जो प्राज्ञ है वह ब्रह्म भी है और स्वयं भी है। कैसे? उसमें ब्रह्म के तीनों लक्षण हैं; यह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं, ब्रह्म ही है। 'यह जल के समान स्वच्छ है, अद्वितीय है। इसलिये यही अभय यही परमात्मा है। यही जीव की परमगति है, परमसंपत्ति है, परमलोक है, परमानन्द है-सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति....एषास्य परमागतिः एषास्य परमासंपत् एषोऽस्य परमो लोकः एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ.४.३.३२)।

और प्राज्ञ में 'स्वयं ब्रह्म हूँ' यह अवगत्यभाव रहने से वह स्वयं भी है। जिस ब्रह्म की अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझना है, वह यही है (बृ.१.४.१०)। पूर्वोक्त ज्ञानप्रमाण से पहले ही ब्रह्म की प्रत्यक्ष जानकारी हो चुकी है। सुषुप्ति में ब्रह्मलक्षणों का अनुभव भी हो रहा है। इसलिये प्राज्ञ का अपने को 'स्वयं ब्रह्म हूँ' यह समझना दुस्साध्य नहीं है। 'तेन आत्मस्वरूपेण अजेन ज्ञानेन अजं ज्ञेयम् आत्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यते'-वह ज्ञान अज है, अपना स्वरूप है, अज ज्ञेय के द्वारा 'आत्मतत्त्वं स्वयं है' इस प्रकार समझता है, निश्चय करता है (मा. का. भा. ३.३३)। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' इस शास्त्रजनितज्ञान के अनुसार जिज्ञासु की बुद्धि का प्रवाह सतत आत्मा की ओर ही रखना है। निदिध्यासन नाम की इस ज्ञाननिष्ठा में बुद्धिसंबंध क्रम-क्रम से छूट जाने के कारण उसमें प्राज्ञत्व भी छूट जाता है। इस प्रकार ज्ञानप्रमाण से आरंभ हुयी ज्ञाननिष्ठा का जब ब्रह्मात्मैकत्व अवगति में पर्यवसान होता है तब जिज्ञासु आत्मैकत्व में स्थापित हो जाता है। महावीर्यों के लिये यह शीघ्र सिद्ध हो सकता है; हीनवीर्यों को बहुत जन्म भी लग सकते हैं, क्योंकि

भगवान् ने ही कहा है- 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'-बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है (गीता ७.१९)। इसलिये, बहुत जन्म अनिर्विण्ण होकर ज्ञाननिष्ठा में रहते हुये अवगति प्राप्त करनी है। ब्रह्म सर्वात्मक होने के कारण यह अवगति जाग्रत्-स्वप्नों में सर्वात्मभाव के रूप में प्रकट होती है। युष्मत्-अस्मत् दोनों प्रत्ययों का लोप हो जाता है। इससे सर्वानर्थनाश होता है। इसलिये, यही परमपुरुषार्थ है। अतः आत्मकाम को ब्रह्म की जिज्ञासा करनी आवश्यक है।

(११.५) और एक प्रश्न है-ऊपर कण्डिका (७) में 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या'-ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये कहा है। फिर कण्डिका (११) में भी वही-'ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्'-ब्रह्म की विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये, कहा है। तैत्तिरीयभाष्य में 'ब्रह्म विजिज्ञासस्व'-ब्रह्म को विशेषरूप से जानने की इच्छा करो (तै. भा.३.१)कहा है। इन तीनों वाक्यों का अर्थ है 'ब्रह्मज्ञान की इच्छा करनी चाहिये'। लेकिन इस अर्थ का इतरवाक्यों से समन्वय नहीं होता है; क्योंकि 'तस्मात् किम् अपि वक्तव्यं यद् अनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यते इति'-जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश किया जाता है उसको कहना चाहिये, इस प्रकार प्रश्न को रखकर, उत्तर के रूप में 'साधनसंपत्ति के अनन्तर' यह कहा है। साधनसंपत्ति में मोक्षेच्छा अन्तर्गत है। ज्ञानप्राप्ति के द्वारा होनेवाली अवगति ही मोक्ष है; इसलिये, मुमुक्षु को यह कहना कि वह ज्ञान की या अवगति की इच्छा करे, इसमें अर्थ नहीं है। इस कारण से ही पीछे कहा है कि 'अथ शब्द न अधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्'-अथ शब्द का अर्थ आरंभ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का आरंभ नहीं किया जा सकता। इसलिये, यहाँ पर किसकी इच्छा करने के लिये कह रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है:- जिज्ञासा पद का 'ज्ञातुम् इच्छा-जानने की इच्छा' केवल यही एक अर्थ नहीं है। रुढ़ि में 'विचार' के अर्थ में भी जिज्ञासा पद का प्रयोग होता है। इस उपकण्डिका के आरंभ में आये भाष्यवाक्यों का यही अर्थ है। अतः 'ब्रह्मजिज्ञासा करो' का अर्थ है 'ब्रह्मविचार करो'। ब्रह्मज्ञान के लिये ब्रह्मविचार करना ही है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान बुद्धि में ब्रह्मविचार से पैदा होनेवाली ब्रह्माकारवृत्ति ही है।

'जैसे धर्मजिज्ञासा में केवल श्रुति आदि प्रमाण है, ब्रह्मजिज्ञासा में उस प्रकार नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा में तो श्रुति आदि और अनुभव आदि यथासंभव प्रमाण होते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तुविषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरमसीमा अनुभव है- न धर्मजिज्ञासायाम् इव श्रुत्यादयः एव प्रमाणम् ब्रह्मजिज्ञासायाम् किन्तु श्रुत्यादयः अनुभवादयः च यथासम्भवम् इह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।' (सू.भा. १.१.२)

१२. तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धम्, न जिज्ञासितव्यम्। अथ अप्रसिद्धम्, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते। अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्, सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयः अर्थाः

प्रतीयन्ते। बृंहतेर्धातोः अर्थानुगमात्। सर्वस्य आत्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मि इति। यदि हि नात्मास्तित्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मि इति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म।

१२. वह ब्रह्म प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध हो सकता है। यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा करने की आवश्यकता नहीं है, यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा हो ही नहीं सकती। (इस शङ्का का समाधान) कहते हैं—नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्तस्वभाव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म प्रसिद्ध है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति से 'बृह्' धातु के अर्थ के अनुसार नित्यशुद्ध इत्यादि अर्थों की प्रतीति होती है। सब की आत्मा होने से भी ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। सबको आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है, 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसी को भी नहीं होता। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध न होता, तो सब लोगों को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान होता। और आत्मा ब्रह्म ही है।

(१२.१) 'ब्रह्मजिज्ञासा, अर्थात् ब्रह्मविचार करना है', इतना कहने के बाद यह आक्षेप उठाया जाता है: यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है, अर्थात् सब उसे जानते हैं तो, उसकी जिज्ञासा अनावश्यक है। यदि वह अप्रसिद्ध है, अर्थात् कोई नहीं जानता है, तो उसकी जिज्ञासा असाध्य है। इसलिये, ब्रह्म की जिज्ञासा कैसे हो सकती है?

इसका परिहार इस प्रकार है:- ब्रह्म प्रसिद्ध नहीं है इसलिये जिज्ञासा आवश्यक है। वह अप्रसिद्ध भी नहीं है इसलिये जिज्ञासा साध्य है। अर्थात्, ब्रह्म इस रूप में प्रसिद्ध है कि सबको उसका 'यह कुछ है' इस प्रकार का सामान्यज्ञान तो रहता ही है और अप्रसिद्ध इस अर्थ में है कि उसका स्पष्ट विशेषज्ञान नहीं होता।

प्रत्याक्षेपः सामान्य लोगों ने तो ब्रह्म शब्द भी कभी नहीं सुना है। फिर यह कैसे कह सकते हैं कि ब्रह्म प्रसिद्ध है?

ब्रह्म शब्द जिन्होंने सुन रखा है उनके लिये परिहार:- ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति से ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म सिद्ध होता है। ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ-जो बिना व्यवधान के वृद्धि को प्राप्त हो', इस धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इसके अनुसार 'बृंहणात् ब्रह्म' (व्यापक होने से ब्रह्म कहलाता है), इस व्युत्पत्ति से ब्रह्म की देश, काल, वस्तु आदि से अपरिच्छिन्नतारूप नित्यता प्रकट होती है, अर्थात् अपने स्वरूप की हानी बिना किये वह वृद्ध है। इससे ब्रह्म का नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव समझ में आता है। 'कैसे समझ आता है?'- वृद्ध होने से पहले जैसा था वृद्धि को प्राप्त होने के बाद भी वैसा ही है; इसलिये वह नित्यशुद्ध है। कोई प्रतिबन्ध या अवधि न होने के कारण वह नित्यमुक्त है। इतना ही नहीं, वृद्धि को प्राप्त करने के कारण ब्रह्म चेतन ही है, इसलिये वह नित्यबुद्ध भी है। इस प्रकार ब्रह्म शब्द के अर्थ के अनुसार ब्रह्मवस्तु का अस्तित्व निश्चय होता है।

और सब-चाहे वे ब्रह्म शब्द के अर्थ को जानने वाले हों, न जानने वाले हों, पंडित हो, पामर हों-ब्रह्म

को जानते ही हैं। उन्हें ब्रह्म का सामान्यज्ञान है। 'कैसे'? पूछ तो उत्तर है कि प्रत्यगात्मा प्राज्ञ सर्वानुभव से सिद्ध है। ऐसा कोई नहीं है जो इसे न जानता हो। 'अपने को या इन भूतों को नहीं जानता है, सुषुप्ति के समय तो मानों ये विनाश को प्राप्त हुआ-सा दिखता है' (छा. ८.११.१)। तो भी 'सुषुप्ति के समय मैं नहीं रहा, मेरा नाश हो चुका था' ऐसा कोई नहीं बोलता। सुषुप्तिकाल में ही 'मैं कुछ नहीं जानता, सुख से हूँ' इस प्रकार का ज्ञान न रहने पर भी, उठने के बाद 'मैंने कुछ नहीं जाना सुख से सोया' '**न किंचदवेदिषं सुखमहमस्वाप्सम्**' यही अपने अनुभव को कहता है। इस प्रकार प्राज्ञ सुप्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, उस समय जो विशेषज्ञान का अभाव था और अनुभव किया हुआ आनन्दप्राचुर्य था, उसका कारण था प्राज्ञ को प्राप्त हुआ ब्रह्मत्व; अर्थात् 'आत्मा च ब्रह्म', प्राज्ञ ही ब्रह्म होने से ब्रह्म भी प्रसिद्ध ही है।

[यहाँ यह भी ध्यान करने योग्य है कि ब्रह्मप्रसिद्धि के लिये भाष्यकार द्वारा दी गयी उपपत्ति खरी नहीं उतरती है यदि हम प्रत्यगात्मा को तुरीयात्मा मानें, क्योंकि वह भी ब्रह्म जितनी ही अप्रसिद्ध है। इसलिये, अध्यासभाष्य की प्रत्यगात्मा तुरीयात्मा नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, इसी कण्डिका के भाष्यवाक्यों में वर्णित आत्मा भी प्राज्ञात्मा ही है। श्रुतिकथित '**अयमात्मा ब्रह्म**' इत्यादि के समान यहाँ '**आत्मा च ब्रह्म**' इस वाक्य में भी 'आत्मा' वही प्रत्यगात्मा है जिसने अभी तक अपने को स्वरूपतः ब्रह्म नहीं समझा है। '**ब्रह्म अयम् आत्मा। कोऽसौ? यः प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता**'-ब्रह्म यह आत्मा ही है। यह आत्मा कौन है? जो प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा (जाननेवाला) और विज्ञाता है (बृ.भा. २. ५.१९)।]

प्रश्न: यह कैसे समझें कि सुषुप्ति में प्रत्यगात्मा को ब्रह्मत्व प्राप्त होने के कारण ही विशेषज्ञान नहीं हुआ और आनन्दप्राचुर्य का अनुभव भी हुआ?

उत्तर: अविद्या के कारण जाग्रत् में अन्तःकरण, चक्षु और रूप आपस में अलग-अलग उपस्थापित रहते हैं। इसलिए विशेषज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन ब्रह्म से ये तीनों अभिन्न हैं। अतः एव चैतन्यस्वभाव का होने पर भी ब्रह्म में विशेषज्ञान नहीं है। इसी कारण से जब प्रत्यगात्मा को सुषुप्ति में ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है, तब उसे विशेषज्ञान नहीं होता।-**यद् हि तद् विशेषदर्शनकारणम् अन्तःकरणं चक्षुः रूपं च, तदविद्यया अन्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत्। तदेतस्मिन् काले एकीभूतम् आत्मनः परेण परिष्वंगात्।अयं तु सर्वात्मना संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेन आत्मना प्रिययेव पुरुषः। तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च। तदभावात् विशेषदर्शनं नास्ति।** (बृ. भा. ४.३.२३) और ब्रह्म परमानन्दस्वरूप भी है। इसलिए, प्रत्यगात्मा को उस समय परमानन्द की प्राप्ति भी हो जाती है।

१३. यदि तर्हि लोके ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततः ज्ञातमेव इति अजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न। तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मा इति प्राकृता

जनाः लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनानि आत्मा इत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता इत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्ता इत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तः इति केचित्। आत्मा स भोक्ता इत्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्नाः युक्ति-वाक्य-तदा-भास-समाश्रयाः सन्तः। तत्र अविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानः निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत। अनर्थं च इयात्। तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधतर्कोपकरणं निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

१३. यदि लोगों में ब्रह्म आत्मारूप से प्रसिद्ध है, तो वह ज्ञात ही है, इसलिए उसकी जिज्ञासा नहीं बनती ऐसा (आक्षेप) दुबारा आता है। ऐसा नहीं है, क्योंकि उसके विशेषज्ञान में मतभेद है। चैतन्य-विशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृतजन और लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं। दूसरे कहते हैं कि चेतन इन्द्रियां ही आत्मा हैं। अन्य कहते हैं कि मन ही आत्मा है। कोई कहते हैं कि क्षणिक-विज्ञानमात्र आत्मा है। दूसरों के मत में आत्मा शून्य है। देहादि से भिन्न, संसारी, कर्ता, और भोक्ता आत्मा है, ऐसा (मीमांसक आदि) और मानते हैं। कोई कहते हैं (सांख्यवादी) कि आत्मा केवल भोक्ता ही है, कर्ता नहीं। किसी का कहना है (द्वैती) कि जीव से भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न है। वह भोक्ता है, ऐसा कोई मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य और उनके आभास के आधार पर बहुत से मतभेद हैं। उनका विचार किए बिना जिस किसी मत को ही ग्रहण करनेवाले मोक्ष से हट जायेंगे और उन्हें अनर्थ भी प्राप्त होने लगेगा। इसलिए, ब्रह्मजिज्ञासा के कथन द्वारा, जिसमें अविरुद्धतर्क साधनभूत हैं और जिसका प्रयोजन मोक्ष है, ऐसे वेदान्तवाक्यों की मीमांसा आरम्भ करते हैं ॥ १ ॥

(१३.१) इस प्रकार यदि प्रत्यगात्मा के रूप में ब्रह्म प्रसिद्ध ही है तो ये आक्षेप पुनः उठता है कि ब्रह्मजिज्ञासा अनावश्यक है। 'सब को प्रत्येक दिन ब्रह्म का अनुभव हो ही रहा है, तो उसकी चर्चा क्या करनी है?' पूछा तो - ऐसा नहीं है। केवल उसका अस्तित्व अनुभव में है। लेकिन उसका स्वरूप क्या है? यह हम नहीं जानते, कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का हमें सामान्यज्ञान है, विशेषज्ञान नहीं। भाष्यकार कहते हैं 'तद्विशेषं प्रति विप्रतिपन्नेः' - उसके विशेषज्ञान के बारे में विरुद्ध अभिप्राय हैं। (यह आत्मा प्राज्ञ न होकर तुरीय होता तो इस वाक्य से समन्वय नहीं होता क्योंकि तुरीय का तो सामान्यज्ञान भी किसी को नहीं होता)। परिणामस्वरूप नास्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी, तार्किक और मीमांसक, सांख्य, ये सब लोग प्रत्यगात्मा को, जो कि ब्रह्म ही है, अलग-अलग ढंग से समझते हैं। द्वैतवादी 'आत्मा च ब्रह्म' - वही

ईश्वर है यह स्वीकार न करके ईश्वर को उससे अलग बताते हैं। कुछ लोग उसे भोक्ता कहते हैं। सब अपने-अपने पक्ष के प्रतिपादन के लिये युक्तियों और प्रमाणवाक्यों का ही प्रयोग करते हैं। तो भी, सबका सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकता क्योंकि एक ही वस्तु के अनेक परस्परविरुद्ध स्वरूप नहीं हो सकते। इसलिये, इनमें से कौन सा ठीक है इसका बिना निश्चय किये केवल अन्धश्रद्धा से ही उनमें से एक को स्वीकार करने पर श्रेयस् की हानि हो जाती है, अनर्थ भी हो सकता है। अतः, मुमुक्षु को विचार करना ही चाहिये। कैसे विचार करना चाहिये? श्रुति से अविरुद्ध तर्क का आश्रय लेकर विचार करना चाहिये। ब्रह्मसूत्रभाष्य इस प्रकार ही विचार करता है।।१.१.१।।



Maha Parivrajak

जन्माद्यधिकरण

१. ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म इति? अत आह भगवान् सूत्रकारः -

१. पीछे कहा गया कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। प्रश्न होता है कि ब्रह्म के लक्षण क्या हैं? इस पर भगवान् सूत्रकार कहते हैं-

(१) श्रुति ब्रह्म के विषय में कहती है कि 'एतत् अप्रमयम्'-यह अप्रमेय है (बृ.४.४.२०), 'अदृश्यम् अग्राह्यम्'-अदृश्य, अग्राह्य है (मु.१.१.६) 'अप्राप्य मनसा सह'-मन से भी अप्राप्य है (तै. २.४) इत्यादि। यहाँ कथित जन्मादि जगत् के धर्म हैं, ब्रह्म के धर्म नहीं। ब्रह्म का तो जगत् से सम्बन्ध ही नहीं। जब ऐसा है तो जगद्धर्म ब्रह्मज्ञान के लिये लक्षण कैसे हो सकते हैं? यह पूछा तो भाष्यकार कहते हैं- 'ठीक है, वाणी से हो, मन से हो, आंख से हो या अन्य इन्द्रियों से हो, इसका ज्ञान साध्य नहीं है। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, यह तो ज्ञात है ही कि ब्रह्म जगत्कारण है। इसलिये वह है ही- **नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते। तथापि सर्वविशेषरहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव (ब्रह्म)**' (क.भा.२.३.१२)। क्योंकि ब्रह्म का जगत्कारणत्व इस प्रकार निश्चित किया गया है, इसलिये, जगद्विशेषणों से संबंधित उसके लक्षण होने ही चाहिये। परन्तु श्रुति ने तो ब्रह्म (तुरीय) को अलक्षण कहा है (मा. ७)। इसलिये, जन्मादि किस प्रकार के लक्षण हैं? उत्तर यह है:- जिन जन्मादि धर्मों को और अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व को हम पहचान रहे हैं वह जगत् के हैं, परन्तु वास्तव में जो हम देख रहे हैं वह धर्मी ब्रह्म ही है। हमारा ध्यान पहले जन्मादि की ओर खींचा जाता है। अर्थात्, जन्मादि धर्मों से आरंभ करके धर्मी की ओर जाने से ही लक्ष्य ब्रह्म का दर्शन होता है। ब्रह्म के स्वरूप में जन्मादि व्यवहार भी नहीं, अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व गुण भी नहीं। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप में न रहने पर भी ये सब ब्रह्म के लक्षण ही हैं।

(१.१) कुछ लोग 'कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्'-कभी दिखायी देने वाले गुण, जो एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से अलग करते हैं, वह तटस्थलक्षण है कहकर, जन्मादि को तटस्थलक्षण बताते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि, 'कभी एक बार देवदत्त के घर के ऊपर बैठा हुआ कौआ' के समान जन्मादि एक बार ही दिखने वाले धर्म नहीं हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'-ईश्वर ने इस सूर्य चन्द्रादि रूप जगत् की पहले के समान सृष्टि की (ऋ.स.१०.१९०.३), यह श्रुति ही कहती है। जन्मादि चक्र तो अनादिकाल से अनंतकाल तक चलता ही रहता है। 'परमात्मा से यह जगत्, अग्नि से विस्फुलिङ्गों

के समान सदा उत्पन्न होता रहता है, जिस परमात्मा में ही जल में बुलबुले के समान यह लीन हो जाता है तथा स्थितिकाल में जिसके स्वरूप से वर्तमान रहता है—**आत्मनः स्थावरजङ्गमं जगदिदम् अग्निविस्फुलिङ्गवद् व्युच्चरति अनिशम्, यस्मिन् एव च प्रलीयते जलबुद्बुदवत् यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले**’ (बृ.भा.२.१.२०)। लेकिन **‘स्वरूपान्तरभूतत्वे सति इतरव्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्’**—स्वरूपलक्षण से अलग गुणों से इतर वस्तुओं का व्यावर्तन करने वाला तटस्थलक्षण है, इस प्रकार तटस्थलक्षण की परिभाषा करने पर जगत् के जन्मादि या अनृतत्वादि ब्रह्म के तटस्थलक्षण हो जायेंगे; क्योंकि, स्वरूप में न रहने पर भी ये गुण ब्रह्म को लक्ष्य कर सकते हैं। ‘कैसे कर सकते हैं?’ पूछा तो **‘रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय’**—वह रूप रूप के प्रतिरूप हो गया, उसके रूप को समझाने के लिये (बृ.२.५.१९)। मनुष्य जैसे अपने अर्थ को वाग्रूप में प्रकट करता है, वैसे ही ब्रह्म जगद्रूप लेकर अपने स्वरूप को प्रकट कर रहा है। जो सम्बन्ध वाक् और अर्थ का है वही तादात्म्य सम्बन्ध क्षेत्रक्षेत्रज्ञ रूप जगत् और ब्रह्म का है। वाक् अर्थ को छोड़कर नहीं रह सकती, परन्तु अर्थ वाक् को छोड़कर भी रहता है। इसी प्रकार जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध है और इस तरह ही ब्रह्म में न रहने वाले जन्मादि या अनृतादि धर्म भी ब्रह्मस्वरूप को प्रकट कर सकते हैं।

जन्माद्यस्य यतः (सू. १.१.२)

अस्य—इस (जगत् का); जन्म आदि—सृष्टि आदि, यतः—जहाँ से (वह ब्रह्म है)

२. जन्म उत्पत्तिः आदिः अस्य इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभंगं समासार्थः। जन्मनश्च आदित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत् “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” (तै. ३.१) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्।

२. जन्म अर्थात् उत्पत्ति है जिसके लिए आदि—इस प्रकार यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। इस समास का अर्थ है जन्मस्थितिनाश। श्रुतिनिर्देश और वस्तुस्थिति की अपेक्षा से भी, जन्म का आदित्व सिद्ध होता है। श्रुतिनिर्देश है ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’। इस वाक्य में जन्म, स्थिति और लय का क्रमशः दर्शन होता है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है क्योंकि जन्म से सत्ता को प्राप्त हुये धर्मी की ही स्थिति और लय का होना संभव है।

(२.१) जन्मादि का अर्थ यदि हम जन्म, स्थिति और भंग इस प्रकार पृथक-पृथक करेंगे तो यह सूत्र श्रुत्यर्थ का अनुसरण नहीं करेगा। श्रुति अनुसार होने के लिये इन तीनों को एक ही समास पद ‘जन्मस्थितिभङ्गम्’ में कहा गया है। इसका कारण यह है: यदि यह समास पद विशेष्य होता तो जब ‘जन्म’

उसके विशेषण के रूप में समझा जाता तब विशेषण के साथ ही हम विशेष्य को समझे हैं ऐसा हो जायेगा। इस प्रकार किया हुआ समास तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास कहा जाता है। विशेष्य को विशेषण से अलग करके समझने पर अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास होता है। यह समास करने पर तो 'जन्मादि' का अर्थ 'जन्म' को छोड़कर केवल स्थिति-भंग मात्र को स्वीकार करने जैसा होगा। तब जगत् के जन्म के लिये एक कारण और स्थिति-भंग के लिये एक और कारण ऐसे दो कारण हो जायेंगे-जन्म के लिये निमित्त रूप से एक चेतन और उपादान कारण रूप से प्रधान या अणु इत्यादि जड़, ऐसा कह सकने की संभावना हो जायेगी। यह श्रुत्यनुगुण नहीं होगा क्योंकि श्रुति ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानती है। इसलिये, 'जन्मादि' पद से 'जन्मस्थितिभंगम्' इस प्रकार तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि को ही स्वीकार करना पड़ेगा। दूसरा विषय जन्मस्थितिभंग में रहनेवाले क्रम के विषय में है-सृष्टिपूर्ववस्तु जब सामने नहीं है तो किसका स्थितिभंग कह सकते हैं? किसी का नहीं। अर्थात्, सृष्टि से पूर्व स्थितिभंग की चर्चा नहीं हो सकती है। इसलिये जन्म ही पहला है। श्रुति भी 'जायन्ते-पैदा होते हैं, जीवन्ति-जीवित रहते हैं, अभिसंविशन्ति-लय होते हैं' से यही क्रम बताती है (तै ३.१)।

(२.२) 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य में भूत का अर्थ है प्राणी (जीव)। इस सूत्र में जिन श्रुतिवाक्यों की चर्चा की गयी है उनमें आकाशादिरूप जड़जगत् की भी जन्मस्थितिभंग कही गयी है। इसलिये, सूत्र के 'अस्य-जगत् के' पद में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों हैं। 'आत्मा ह्याकाशवज्जीवैः घटाकाशैरिवोदितः । घटादिवच्च संघातैः जातावेतन्निदर्शनम्'-घटाकाश जैसे जीवों के रूप से, घटादि जैसे संघातों के रूपों से आत्मा पैदा होता है। पैदा होने के लिए यह दृष्टान्त है। (मां. का. भा. ३.३)। अपरा प्रकृति के द्वारा प्रकट होने वाला क्षेत्र ब्रह्म ही है। इसका प्रमाण है: 'सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्'-व्यावहारिक प्रातिभासिक सत्यरूपी जगत् पारमार्थिक सत्य ही है। (तै भा. २.६)। और परा प्रकृति के द्वारा प्रकट होनेवाला क्षेत्रज्ञ भी ब्रह्म है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य इसमें प्रमाण हैं। और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों एक ही ब्रह्म हैं इसमें प्रमाण है 'क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि'-क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ (गी. १३.२)। अपरा के द्वारा क्षेत्र और परा के द्वारा क्षेत्रज्ञ दिखायी देता है। इस प्रकार अलग-अलग कहने पर भी अपरा के द्वारा सर्वप्रथम प्रकट होने वाला हिरण्यगर्भ क्षेत्रज्ञ ही है, और परा के द्वारा दिखायी देने वाले क्षेत्रज्ञ की प्राणोपाधि क्षेत्र ही है। सृष्टि करने के लिये नामरूपों का विशेषज्ञान और भूतसंसर्ग इन दोनों का होना आवश्यक है; परन्तु ये अविद्यायुक्त जीव में ही होते हैं, ईश्वर में नहीं। इसलिये प्रवृत्ति जीव में है, ईश्वर में नहीं। 'परमात्मनः तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्'-परमात्मा में स्वरूपपाश्रय से उदासीनता है और माया के आश्रय से प्रवृत्ति है (सू. भा. २.२. ७)। यहाँ माया का अर्थ है प्रवृत्ति का कारण-अहंकार, अर्थात् अविद्यासंयुक्त अव्यक्त-'अहंकारः इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्.....', प्रवर्तकत्वात् अहंकारस्य' (गी. भा. ७.४)। इस प्रकार, सारे विकारों

का और सृष्टि आदि सारे व्यवहारों का उपादान ईश्वरी मायाशक्ति है और ईश्वर का प्रवर्तकत्व जीवों की अविद्या से है। इसी कारण से 'ब्रह्म जीवरूप से अनुप्रवेश करके नामरूपों को प्रकट करता है—**अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**' (छा.६.३.२)। अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से ईश्वर पराप्रकृति प्राणोपाधि द्वारा क्षेत्रज्ञ रूप को प्राप्त कर सृष्टि आदि व्यवहार करता है।

प्रश्न: ऐसा कहने के स्थान पर हम 'जगत् का उपादान माया है और जगत् का निमित्त हिरण्यगर्भ है' यह कहकर ब्रह्म के उदासीन स्वरूप को क्यों न बचाये रखें?

उत्तर: ऐसा नहीं। ब्रह्मज्ञान के बिना आत्मैकत्वविद्या नहीं प्राप्त हो सकती और ब्रह्म में जगत्व्यवहार का अध्यारोप किये बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता; ब्रह्म परोक्ष ही रह जाता है। इसलिये, ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहना है।

प्रश्न: ब्रह्म में न रहनेवाले व्यवहार का उसमें अध्यारोप करना झूठ बोलने के समान होगा न?

उत्तर: वेद झूठ नहीं बोलते हैं। माया हो चाहे हिरण्यगर्भ हो, ये ब्रह्म से अनन्य ही हैं; इसलिये, अध्यारोप झूठ नहीं है। जैसे घर बनाने का व्यवहार मजदूर का होने पर भी, जिससे उसको वेतन मिलता है उसके द्वारा ही घर बनाया हुआ है, ऐसा लोग कहते हैं। उसी प्रकार, जिसकी मायाशक्ति से हिरण्यगर्भ सृष्टि आदि व्यवहार करता है, उस ब्रह्म को जगत्कारण कहना अध्यारोपदृष्टि है, अविद्यादृष्टि नहीं। यह अध्यारोप है, अध्यास नहीं।

३. "अस्य" इति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिणः इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबंधार्था।

३. "अस्य" इसमें प्रत्यक्ष आदि से संवेदित धर्मी का 'इदम्' शब्द से निर्देश है। षष्ठीविभक्ति जन्म आदि धर्म से धर्मी के सम्बन्ध का द्योतन करती है।

(३.१) यहाँ 'अस्य' पद का अर्थ है 'जगत् का'। जगत् धर्मी है और जन्म-स्थिति-भंग उसके धर्म हैं। धर्म धर्मी को छोड़कर नहीं रहते, लेकिन धर्मी धर्म को छोड़कर भी रहता है। वह कैसे?

उत्तर: जगत् सर्वदा है। '**कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति**' (सू.भा.२.१. १६)। जगत् का व्यक्त होना सृष्टि, व्यक्त रूप में रहना स्थिति और पुनः अव्यक्त हो जाना लय कहलाता है। अर्थात्, जगत् जन्मादि धर्मों को छोड़कर भी रहता है। उसी प्रकार, अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व जगत् के धर्म हैं; जगत् का उपादान है इन धर्मों के बिना रहने वाला ब्रह्म। इसलिये, ब्रह्म को छोड़कर जगत् नहीं है लेकिन ब्रह्म जगत् के बिना भी है। अनृत घटादि मृत् को छोड़कर नहीं रहते, परन्तु फिर भी मृत् अनृत नहीं, सत्य ही है। जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध भी ऐसा ही है। यह धर्म-धर्मी सम्बन्ध कार्य-कारण

अनन्यत्वन्याय ही है (सू. भा. २.१.९)। इसी प्रकार, जन्मादि धर्म जगत् को छोड़कर नहीं हैं और जगत् ब्रह्म को छोड़कर नहीं है। इसलिये, जन्मादि और जगत् इस अर्थ में ब्रह्म के लक्षण हैं। क्षेत्र के जन्म, स्थिति और भंग ब्रह्म के उपलक्षण हैं; क्षेत्र के अनृतत्व, जड़त्व और परिच्छिन्नत्व ब्रह्म के धर्मलक्षण हैं; और सत्य ज्ञान, अनन्त ब्रह्म के स्वरूपलक्षण हैं। उसी प्रकार, क्षेत्रज्ञ के जन्म, स्थिति और भंग ब्रह्म के उपलक्षण, प्रियमोदादि धर्मलक्षण और आनन्द स्वरूपलक्षण हैं।

इसलिये ब्रह्मसूत्र ब्रह्मजिज्ञासा का जन्मादि से आरंभ करके फिर विलक्षणत्वाधिकरण (ब्र.सू. २.१. अधि ३) और आरंभणाधिकरण (२.१ अधि ६) में अनृतजगत् का सत्यब्रह्म से अनन्यत्व दिखाकर उभय-लिङ्गाधिकरण (३.२. अधि ५) में ब्रह्म के निर्विशेषस्वरूप का निश्चय करते हैं। उसी प्रकार तदभावाधिकरण (३.२. अधि २) में दिखाया गया है कि क्षेत्रज्ञ का स्वरूप भी यही ब्रह्म है। क्षेत्र का स्वरूप जो ब्रह्म है, वही क्षेत्रज्ञ का भी स्वरूप है—यह समझना ही आत्मैकत्वविद्या है, न कि क्षेत्र को मिथ्या समझना। भाष्यकार चेतावनी देते हैं कि तद्विपरीत समझने वाला मोक्ष के लिये अनर्ह (अयोग्य) होगा (देखिये इसी ग्रन्थ में अध्यासभाष्य २५.२ अन्त्यभाग)।

कह चुके हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भिन्न स्वभाव के हैं (गी. भा. १३.२६)। क्षेत्र यदि असत् है तो उसका स्वभाव ही नहीं हो सकता। फिर सूत्रकार और भाष्यकार श्रम से कैसे दिखा सकते हैं कि असत् क्षेत्र का स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म है? इस श्रम का अर्थ है:— ब्रह्म क्षेत्र का उपादान है इसलिये उसमें क्षेत्रधर्म नहीं है। यह निर्धर्म ब्रह्म ही प्राज्ञ है। इसलिये, प्राज्ञ में ही ब्रह्म के तीनों लक्षण हैं। प्राज्ञ स्वयं होने से सुषुप्ति में क्षेत्रधर्म का अभाव सबके अनुभव में है। इसलिये, अध्यास का मिथ्यात्व समझाते ही समझ में आ जाता है। यह बात अलग है कि अध्यास को छोड़ना अत्यन्त कठिन है।

४. “यतः” कारणादिर्देशः। अस्य जगतः नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेक कर्तृभोक्तृ-संयुक्तस्य प्रतिनियत-देश-काल-निमित्त-क्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति “तद् ब्रह्म” इति वाक्यशेषः।

४. ‘यतः’ से कारण का निर्देश है। नाम-रूप से प्रकट हुआ, अनेक कर्ता-भोक्ता से संयुक्त, देश, काल और निमित्त के अनुसार क्रियाफल का आश्रय, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है यह वाक्यशेष है।

(४.१) इस परिच्छेद का उद्देश्य यह बताना है कि जगत्कारण ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। इस के दृढीकरण के लिये अनुमान की सहायता से कुछ और वर्णन करते हैं—

(अ) जगत् नामरूपों से व्याकृत है। 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यदास्ते'-वह धीर सारे रूपों को व्याकृत करके उनके नाम रखकर बुला रहा है (तै.आ.३.१२.७) इसलिये, जगत्कारण कोई जड़तत्त्व नहीं हो सकता, चेतन ही होना है। 'सः अकामयत'-उसने इच्छा की (तै.२.६) 'सः ईक्षत, सः ईक्षां चक्रे'-उसने देखा (ऐ १.१.१; प्र ६:३) इत्यादि मन्त्र यही बताते हैं।

(आ) जगत् में कर्तृ-भोक्तृ जीव समाविष्ट हैं। इस जन्म के कर्मफल भोगते समय कर्ता ही भोक्ता है। यदि पिछले जन्मों का कर्मफल है तो अभी कर्ता न होकर भोक्ता होता है। चूंकि कर्ता-भोक्ता सृष्टि में सम्मिलित हैं इसलिये कारणब्रह्म कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता।

(इ) नियतदेश-काल-निमित्त-क्रियाफल-आश्रयः-कर्ता का कर्म ही क्रिया है; और आगे भोक्ता बनकर जिस कर्मफल को वह भोगेगा वही फल है। यह देशकालनिमित्तों के आधार पर ही होता है। जगत् में दिखायी देने वाले देश, काल और निमित्त कार्यकोटि में ही हैं, इसलिये कारणब्रह्म इनसे परे है।

(ई) मनसा अपि अचिन्त्य रचना रूपः- कई शताब्दियों से बड़े-बड़े वैज्ञानिक अनुमान प्रमाण के आधार पर जगत्स्वरूप को ढूँढ रहे हैं, लेकिन उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अवांतरकारणों को समझाने में एक हद तक सफल होने पर भी मूलकारण का अनुमान से निश्चय नहीं हो सकता। हाँ, इतना अवश्य निश्चय हो गया है कि अनुमान से उसका निश्चय नही होगा! क्यों? व्याप्तिज्ञान के आधार पर ही व्याप्य को देखकर अनुमान से व्यापक का निश्चय किया जाता है। अवांतरकारण के निश्चय में उपमान और अर्थापत्ति के आधार पर व्याप्तिज्ञान होना संभव है, लेकिन मूलकारण के विषय में नहीं क्योंकि वह पूर्वदृष्ट नहीं। इसलिये, यह निश्चय होता है कि अनुमान से मूलकारण का निश्चय नहीं हो सकता।

(४.२) प्रश्नः ऊपर कहा गया कि देश और काल सृष्टि में ही सम्मिलित हैं। अतीत, वर्तमान, भविष्य-ये काल के लक्षण हैं। दिखायी देते समय जगत् का स्थितिकाल है, न दिखते समय लयकाल हैं। इसलिये, काल को स्वीकार करने पर ही जगत् के जन्म, स्थिति और भंग सिद्ध होंगे; अर्थात्, काल को कारणकोटि का होना पड़ेगा। लेकिन यहाँ तो सृष्टि में होने के कारण काल को कार्यकोटि में ही लिया गया है, इसका समन्वय कैसे होगा?

उत्तरः काल दो हैं:- पहला तो वह है जिसकी हम अतीत, वर्तमान, भविष्य-ऐसी गणना कर सकते हैं। यह सापेक्षकाल है। इस सापेक्षकाल का आधार एक दूसरा काल है जो कि गणना के लिये प्राप्त नहीं होता-यह निरपेक्षकाल है। सापेक्षकाल का निश्चय किसी घटना की अपेक्षा से ही होता है। यह काल बदलनेवाला, गणना के लिये मिलनेवाला और क्षयस्वभाव का है, जैसे सूर्योदयकाल। निरपेक्षकाल न बदलने वाला है, न ही उसकी गणना ही की जा सकती है, अर्थात् अक्षय है, जैसे सूर्य में ही रहनेवाला काल होता है-वहाँ पर न उदय है न अस्त। गणना के लिये मिलने वाला सापेक्षकाल ब्रह्म है- 'कालः कलयताम्

अहम्' (गी. १०.३०)। जिसकी गणना नहीं की जा सकती वह अक्षय काल भी ब्रह्म ही है—'अहम् एव अक्षयः कालः' (गी. १०.३३)। जैसे-जैसे घटनाओं का विकास होता है अक्षयकाल ही सापेक्षकाल के रूप में व्यक्त होने लगता है—'कालः अस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' (गी. ११.३२)। इसलिये सापेक्ष काल कार्य है और निरपेक्षकाल उसका उपादान है; वह ब्रह्म ही है। कारणकोटि में आनेवाला यह निरपेक्ष, अग्राह्यकाल ही सृष्टिरूपी घटना की उपाधि से सापेक्षकाल के रूप में अनुभव को प्राप्त होता है। निरपेक्षकाल ऐसा नहीं है।

देश और सापेक्षकाल सब कुछ इसी प्रकार पहले सद्रूप में ही रहते हैं। सृष्टि के बाद अपने सद्रूप को न छोड़कर ही देशकाल बुद्धिगोचर होते हैं। ब्रह्म से इनका संबंध मृद्-घट के समान कारण-कार्य जैसा ही है। 'प्रागुत्पत्तेः अव्याकृतनामरूपभेदम् आत्मभूतम् आत्मैकशब्द-प्रत्ययगोचरं जगत् इदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वात् अनेकशब्दप्रत्ययगोचरम् आत्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं च'—उत्पत्ति से पूर्व यह आत्मभूत जगत् नामरूपादिभेद व्यक्त न होने के कारण एक 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का ही विषय था और इस समय नामरूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय तथा एकमात्र 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है (ऐ. भा. १.१.१)।

(४.३) प्रश्नः कुम्हार अपनी बुद्धि में रहनेवाली नामरूप की स्मृति के आधार पर ही घट को बनाता है। लेकिन ब्रह्म के तो करण नहीं हैं, वह तो अप्राण है, अमन है (मुं.२.१.२)। इसलिये, इस जटिल नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि के लिये ब्रह्म निमित्त कैसे हो सकता है?

उत्तरः अल्पज्ञ जीवों के द्वारा घटादि की सृष्टि में करणों की आवश्यकता देखकर यह कहना कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को भी उनकी आवश्यकता होगी ठीक नहीं है। सिद्ध पुरुषों का किसी बाह्य साधन की अपेक्षा न करके भी सृष्टि करना ज्ञात ही है (सू. भा. २.१.२५)। जीव का भी सुषुप्ति में अकेले रहकर स्वप्नसृष्टि करने का दृष्टान्त ही है। इतना होने पर भी, अन्य प्रमाणों को न मिलने वाले विषयों को ही समझाने वाले श्रुतिवाक्यों पर अन्य प्रमाणों के आधार पर आक्षेप करना ठीक नहीं है। बिना किसी करण के अकेले ब्रह्म द्वारा इस विचित्र सृष्टि की रचना ही उसका सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व है।

(४.४) आक्षेपः ब्रह्म सर्वदा कुछ न कुछ समझता या करता ही नहीं रहता। कम से कम प्रलयकाल में तो समझने को या करने को कुछ नहीं है। इसलिये, केवल ज्ञानरूप ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कैसे कह सकते हैं?

परिहारः ब्रह्म केवल ज्ञानस्वरूप है। इसीलिये उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। 'यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यम् अस्ति सः असर्वज्ञः इति विप्रतिषिद्धम्'—सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला जिसका ज्ञान नित्य है उसे असर्वज्ञ कहना विरुद्ध है (सू. भा. १.१.५)। वह 'सर्वज्ञ स्वभाव

है-**सः सर्वज्ञस्वभावः** (ऐ.भा.१.१.१); लेकिन उसमें सर्वज्ञत्व का व्यवहार नहीं है, क्योंकि व्यवहार बुद्धि आदि उपाधि से ही हो सकता है। निरुपाधिक स्वरूप में व्यवहार नहीं हो सकता। व्यवहार रहे या न रहे, ब्रह्म अपने स्वरूप में सर्वज्ञ ही है। सर्वज्ञत्व विशेषण नहीं, स्वरूप है। लेकिन सर्वज्ञत्वव्यवहार विशेषण है। ब्रह्म के सर्वशक्तित्व को भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

(४.५) **आक्षेपः** सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व जीव में नहीं है। इसलिये, जीवेश्वरैकत्व नहीं हो सकता न?

परिहारः सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व का व्यवहार जीव में न रहने के कारण ईश्वर जीव से अलग ही है। आगे भाष्यकार कहेंगे भी कि जीव सृष्टि आदि व्यवहार नहीं कर सकता। परन्तु निरुपाधिक स्वरूप में जीव सर्वज्ञ ही है। **‘सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः’**-ज्ञानी को सर्वज्ञत्व सदा यहाँ है (मां. का. भा. ४.८९)। इसलिये, अविद्यारहित ज्ञानी के विषय में तो सृष्टि आदि उसी से है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

प्रश्नः ऐसा मानने पर तो बहुत से ईश्वर हो जायेंगे?

उत्तरः ज्ञानी को यदि देहादि उपाधि से समझा तो यह दोष आ सकता है। लेकिन ऐसा समझना गलत है क्योंकि वह निरुपाधिक आत्मा ही है; जो एक ही है; वह ईश्वर है।

प्रश्नः ईश्वर एक ही है इसे कैसे समझें?

उत्तरः सत्य, ज्ञान, अनन्त उसका स्वरूप है। यहाँ ‘ज्ञान’ का अर्थ बुद्धि में होने वाली ज्ञानक्रिया से उत्पन्न विशेषज्ञान नहीं है। यहाँ ‘ज्ञान’ का अर्थ है निरुपाधिक ज्ञप्ति। यह एक ही है, एक से अधिक नहीं हो सकती; और एक यदि कुछ भी होगा तो वह ज्ञेय ही होगा। इसी प्रकार आनन्द भी। वह भी निरुपाधिक ही है, दूसरे को दिखायी देनेवाला विषयसुख नहीं है। इसलिये, सर्वोपाधिरहित सुषुप्ति में अनुभव किया गया आनन्द और निर्विशेषज्ञान सब में एक समान ही होता है। यह सकललोकप्रत्यक्ष है।

प्रश्नः परा और अपरा प्रकृति नित्य हैं (गी.भा. १३.१९)। इसलिये, लयकाल में भी वे हैं ही; ऐसा है तो ब्रह्मैकत्व कैसे सिद्ध होगा?

उत्तरः घड़े नाना होने पर भी मृदूप से जैसे एक ही हैं, वैसे ही यहाँ भी है। नानात्व व्यक्त करने वाले स्थितिकाल में ही जब परमार्थदृष्टि से एकत्व है, तब लयकाल के विषय में क्या कहना? तब भी एकत्व ही है, क्योंकि प्रकृतियां ब्रह्म से अनन्य ही हैं। **‘सा शक्तिः ब्रह्म एव अहं शक्तिशक्तिमतोः अनन्यत्वात्’**-वह शक्ति ब्रह्म ही मैं हूँ क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता (गी. भा. १४.२७), **‘मम स्वभूता मदीया माया’**- मेरी स्वरूपभूत मेरी माया (गी. भा. १४.३) इत्यादि।

५. अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेव अन्तर्भावः इति जन्मस्थितिनाशानाम् इह

ग्रहणम्। यास्क परिपठितानां तु जायते अस्ति इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वात् मूलकारणात् उत्पत्तिस्थितिनाशाः जगतो न गृहीताः स्युः इत्याशङ्क्येत। तन्माशङ्कि इति या उत्पत्तिः ब्रह्मणः तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

५. अन्य भावविकारों का भी इन तीनों में ही अन्तर्भाव है, इसलिए जन्म, स्थिति और नाश का यहाँ ग्रहण किया है। यास्कमुनि से पठित 'जायते, अस्ति,' इत्यादि (छह भावविकारों) का यदि ग्रहण किया जाये, तो जगत् के स्थितिकाल में उनकी सम्भावना होने से मूलकारण से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का ग्रहण नहीं किया होगा—ऐसी कोई शङ्का करेगा। यह शङ्का कोई न करे, इसलिये जिस ब्रह्म से इस जगत् की जो उत्पत्ति, उसी में जो स्थिति और उसी में जो लय श्रुति में कहे गये, वे ही जन्म, स्थिति और लय यहाँ गृहीत होते हैं।

(५.१) सूत्र में कथित जन्म-स्थिति-भंग सम्पूर्ण जगत् को अन्वय होते हैं। निरुक्तकर्ता यास्क मुनि तो अलग से वस्तुओं के छह विकारों को बताते हैं: जायते-पैदा होना; अस्ति-विद्यमान होना; वर्धते-बढ़ना; विपरिणमते-अवस्थान्तर को प्राप्त होना; अपक्षीयते-क्षीण होना; नश्यति-नष्ट होना। ये छहों विकार जगत् के स्थितिकाल में रहनेवाली वस्तुओं को भी अन्वय हो सकते हैं। इसका उदाहरण है एक वृक्ष। एक वृक्ष के कारण के रूप में पृथ्वी ही पर्याप्त है, ब्रह्म को कारण कहने की आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र में यदि इन छह विकारों को ही लिया हुआ मानें तो क्या यह किसी अवान्तर कारण को ही कहता है (जैसे वृक्ष के लिये पृथ्वी) या ब्रह्म को कहता है? ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है। 'ऐसी शंका न होने दो। सूत्र मूलकारण को ही कह रहा है—यह स्पष्ट होने दो', इस उद्देश्य से ही, जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, उसी में जगत् की स्थिति और लय को भी स्वीकार किया गया है।

प्रश्न: यास्क के विकारों का अन्तर्भाव करने के लिये क्या प्रमाण हैं?

उत्तर: 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ.स.१०.१९०.३) इत्यादि श्रुति स्पष्टरूप से ईश्वर को ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण बताती हैं।

६. न यथोक्त विशेषणस्य जगतः यथोक्तविशेषणम् ईश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधानात् अचेतनात्, अणुभ्यः अभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः विशिष्टदेशकालनिमित्तानाम् इह उपादानात्।

६. पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जगत् की उक्त विशेषण (विशिष्ट) ईश्वर के सिवा अन्य किसी से—प्रधान से, अचेतन परमाणुओं से, अभाव (शून्य) से, अथवा संसारी से, उत्पत्ति आदि

की सम्भावना नहीं की जा सकती। स्वभाव से भी जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ विशेष देश, काल और निमित्त आवश्यक हैं।

(६.१) यहाँ बता रहे हैं कि इस जटिल जगत् का कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्त ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। सांख्यसिद्धान्त कहता है कि जड़ प्रधान अपने आप परिणाम को प्राप्त होकर जगदाकार लेता है; परन्तु जड़त्व के इस प्रकार कार्य करने के लिये कोई दृष्टान्त नहीं है। दूध के दही होने के समान यदि प्रधान का जगत्कारणत्व स्वीकार किया जाये, तो भी अपने अपने कर्मफलों से जीवों का संयोग जड़ प्रधान नहीं करा सकता। इसलिये, प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता (सू.भा. २.२. अधि. १)।

आगे वैशेषिकों की कल्पना है कि अणु उपादान है और कर्ता-भोक्ता आत्मा निमित्त है। सू.भा.२.२. १२-१७ में दिखाया गया है कि उनका यह सिद्धान्त व्याघातदोष से पूर्ण है।

अगले अभाववादी बौद्ध हैं। वे कहते हैं कि बीज के नाश से ही वृक्ष पैदा होता है इसलिये बीजाभाव ही वृक्ष का कारण है। परन्तु, अगर यह पूछा जाये कि 'आम के बीज का अभाव ही आम के वृक्ष का कारण क्यों है? इमली के बीज के अभाव से आम का वृक्ष क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता?', तो उनके पास कोई उत्तर नहीं है। इतना ही नहीं, उनका कथन गलत भी है, क्योंकि बीज के अन्दर वृक्ष सूक्ष्म रूप में रहता है और उसी का परिणाम होकर पेड़ के बड़े होते-होते बीज का नष्ट होना प्रत्यक्ष है। इसलिये, कुतर्क से बीजाभाव को वृक्ष का कारण बताना कोई विवेकी स्वीकार नहीं करेगा। सब जानते ही हैं कि जगत् जीव से नहीं आता। 'न च गिरिनदी समुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेषु अनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यम् अस्ति'-गिरि, नदी, समुद्र आदि नाना प्रकार के नाम और रूपों की सृष्टि करने का सामर्थ्य अनीश्वर जीव में नहीं है (सू.भा.२.४.२०)।

आगे स्वभाव से ही जगत् होने की बात है। परन्तु स्वभाव से ही कुछ होने का अर्थ क्या है? देश, काल और एक व्यवहारनिमित्त चेतन, इनमें किसी की भी अपेक्षा न करके कुछ उत्पन्न होना ही स्वभावजन्य होता है। इसका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है। जड़ का अर्थ ही है 'जो अपने आप कुछ नहीं कर सकता'; इसलिये, बिना किसी चेतन निमित्त के जगत् की सृष्टि होना असाध्य ही है। अतः 'मनसा अपि अचिन्त्य' जगत् की सृष्टि सर्वज्ञ और सर्वशक्त ईश्वर से ही हो सकती है, और किसी से नहीं।

(६.२) यहाँ एक प्रश्न उठता है:- ब्रह्मजिज्ञासा से आरंभ करके अचानक सर्वज्ञसर्वशक्त ईश्वर को जगत्कारण कहने का औचित्य क्या है? यह ईश्वर कौन है? ब्रह्म से इसका क्या सम्बन्ध है?

उत्तर: सन्मात्र ब्रह्म अव्यवहार्य ज्ञानस्वरूप है। उसको सीधा समझना असाध्य है। उसको समझाने के लिये शास्त्र अनुसरण करने का क्रम यह है:-

ब्रह्मशक्ति प्रकृति ब्रह्म से अलग नहीं है। परन्तु फिर भी प्रकृति को ब्रह्म से अलग-सा मानकर उसे

ब्रह्म की उपाधि कहा जाता है। यही है अध्यारोप। इस प्रकृत्युपाधि से लक्षित ब्रह्म ही ईश्वर है। जगत् की उपादान अव्यक्त नाम की जड़शक्ति है, जो इस प्रकृति का एक अंग है। दूसरी है क्रियाशक्ति प्राण। अव्यक्तरूप अंकुर से होकर महदादि से आरंभ करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप जगत् को धारण करने के लिये (गी. ७.५) आवश्यक शक्ति ही प्राण है (सू.१.३.३.९)।

इस अव्यक्त में जीवों के अविद्यादि अनेक संसारबीजदोष छिपे हैं—‘अविद्याद्यनेकसंसारबीज-रूपमन्तर्दोषवत् माया’ (गी. भा. १२.३)। यही ईश्वर में सृष्टिप्रवृत्ति उत्पन्न करती है। जीवों के भोग और अपवर्ग के लिये जगत्सृष्टि होती ही रहती है। इस व्यवहार के निर्वहण के लिये शास्त्र ब्रह्म को ही ईश्वर रूप में कहता है। जीवों की अविद्यादृष्टि में स्वयं, नामरूप, ब्रह्म, ये सब अलग-अलग हैं; परन्तु परमार्थदृष्टि में जगत् प्रकृति से अनन्य है और प्रकृति ब्रह्म से अनन्य है—‘कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेः च आत्मभूतं कार्य’ (सू.भा.२.१.१८)। इसलिये, सर्वस्व ब्रह्म है, इस ब्रह्मैकत्व को समझाने के लिये एकमेवाद्वितीय ब्रह्म में भिन्नत्व की कल्पना करके, उसी की स्वरूपभूता प्रकृति को उसकी उपाधि कहकर व्यावहारिक जगत् को सिद्ध करना अध्यारोप है। यह नहीं किया तो हम ब्रह्म को नहीं समझ सकते। कार्य-कारणअनन्यत्वन्याय से एकमेवाद्वितीय ब्रह्म को समझते ही अध्यारोप का अपवाद हो जाता है। इस प्रकार, ब्रह्म-ईश्वर भेद केवल वाचारंभण ही है।

७. एतदेव अनुमानं संसारि-व्यतिरिक्त-ईश्वर-अस्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वर-कारणिनः। ननु इहापि तदेव उपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे? न। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते वाक्यार्थ-विचारण-अध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः न अनुमानादि प्रमाणान्तरनिर्वृत्ता।

७. ईश्वर को (जगत् का) कारण माननेवाले (नैयायिक) इसी अनुमान को संसारी (जीव) से पृथक् ईश्वर की सत्तासिद्धि के लिए साधन मानते हैं। तो क्या इस जन्मादि सूत्र में भी उसी अनुमान का उपन्यास किया है? नहीं, वेदान्तवाक्यरूपी फूलों को गूँथना ही सूत्रों का प्रयोजन है। सूत्रों से वेदान्तवाक्यों का उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ-विचार से जो तात्पर्य निश्चय होता है, उससे ब्रह्मज्ञान निष्पन्न होता है, अनुमान आदि प्रमाणान्तर से निश्चय नहीं होता।

(७.१) ऊपर जन्मादि को तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमासार्थ में लेने पर जगत् का ब्रह्मोपादानत्व अन्तर्गत हो जाने पर भी, अभी तक निमित्तत्व का ही विचार चल रहा है। यह सिद्ध किया गया कि जगत् का निमित्तकारण सर्वज्ञ, सर्वशक्त ईश्वर ही है। परन्तु यह तो अनुमान से भी सिद्ध हो सकता है। **संदेहः**—तो फिर ‘जन्मादि सूत्र भी इस अनुमान का अनुवाद करके ईश्वर को सिद्ध करता रहा होगा क्या?’

परिहार: नहीं। अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला ईश्वर प्रमाता जीव का प्रमेय ही बनेगा। ऐसे में प्रमेय से प्रमाता का एकत्व अनुभव को नहीं मिलेगा। इसलिये, अनुमित ईश्वर परोक्ष ही रह जायेगा। लेकिन श्रुत्युक्त ईश्वर ऐसा नहीं है। सन्मात्र होने पर भी जो जगत्कारण है, और जगत्कारण होने पर भी जो सन्मात्र है, ऐसा यह श्रुत्युक्त परमगंभीर ब्रह्म-सत्य, ज्ञान, अनन्त होकर, प्राज्ञ को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव को प्राप्त होता है। यहाँ सत्यत्व अपने अर्थ को छोड़े बिना अनृतकार्य का व्यावर्तक है, अनन्तत्व परिच्छिन्नत्व का व्यावर्तक है। अनृतत्व, परिच्छिन्नत्व कल्पित नहीं हैं व्यावहारिक सत्य हैं। तात्पर्य ये है कि ये जगत्धर्मों के व्यावर्तक होने के कारण सापेक्षलक्षण हैं और ब्रह्म के उपादानत्व से ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानलक्षण तो ब्रह्म में अध्यारोपित (शास्त्रकल्पित) कारकत्व का, और आनन्द अविद्याकल्पित आनन्दमयाद्यात्माओं का व्यावर्तक होने के कारण निरपेक्षलक्षण है। इन लक्षणों के मनन और निदिध्यासन से जनित ब्रह्म का ज्ञानप्रमाण तो ब्रह्म-अवगति में पर्यवसित होते ही यह फल देता है कि बुद्धि निष्प्रचार रहते समय सन्मात्र आत्मभाव में और सप्रचार रहते समय सर्वात्मभाव में ही रहती है। इस प्रकार अनुमानादि और श्रुतिप्रमाणों में यह महत्वपूर्ण अन्तर है कि अन्य प्रमाणों में आखिर तक प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता अर्थात् नानात्व पर आधारित व्यवहार रहता है। श्रुतिप्रमाण तो, नानात्व से आरंभ करने पर भी, नानात्व को सम्पूर्णतया नष्ट करते हुये, एकत्वप्रकाश को बिखेरते हुए, कर्पूर जैसे अपने आपको भी नष्ट करके, स्वयं भी प्रकाश में एक हो जाता है। ब्रह्मसूत्र इसी प्रकार के श्रुतिवाक्यपुष्पों की माला है।

८. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्य-अविरोधि प्रमाणं भवत् न निवार्यते। श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्। तथा हि "श्रोतव्यो मन्तव्यः" (बृ २.४.५) इति श्रुतिः "पंडितो मेधावी गन्धारानेव, उपसंपद्येत एवमेव इह आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छां ६.१४.२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यम् आत्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्म-जिज्ञासायाम्, किंतु श्रुत्यादयः अनुभवादयश्च। यथासंभवमिह प्रमाणम् अनुभवावसान-त्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्ति इति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्। पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म यथा अश्वेन गच्छति, पद्भ्याम् अन्यथा वा न वा गच्छति इति। तथा "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति", "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति", "उदिते जुहोति", "अनुदिते जुहोति" इति विधिप्रतिषेधाश्च अत्र अर्थवन्तः स्युः। विकल्प-उत्सर्ग-अपवादाश्च। न तु वस्तु "एवं" "नैवम्", "अस्ति", "नास्ति" इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं

तर्हि। वस्तुतन्त्रमेव तत्। न हि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषः अन्यो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषः अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानम्। वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्र एवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्।

८. जगत् के जन्म आदि का निर्देश करनेवाले वेदान्तवाक्यों के रहने पर उनके अर्थ की दृढ़ता के लिए वेदान्तवाक्यों से अनुमत अनुमान भी प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि श्रुति ने ही सहायता के लिए तर्क को भी अङ्गीकार किया है। जैसे कि—‘(ब्रह्म) श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है’—यह श्रुति है और जैसे ‘पण्डित और मेधावी गन्धार देश को ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है’ यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुषबुद्धि को सहायक दिखलाती है। धर्मजिज्ञासा की तरह ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि यहाँ यथासम्भव प्रमाण हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तु (ब्रह्म) विषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरम सीमा अनुभव (ब्रह्मसाक्षात्कार) है। कर्तव्य के विषय में अनुभव की अपेक्षा नहीं होने से और कर्तव्य की उत्पत्ति पुरुषाधीन होने से, उसमें श्रुति आदि ही प्रमाण हैं। इसलिए लौकिक और वैदिक कर्म करना, न करना और दूसरे प्रकार से करना हो सकता है। जैसे घोड़े पर जाता है, पैदल अथवा अन्य प्रकार से जाता है अथवा नहीं जाता, इसी प्रकार ‘अतिरात्र में षोडशीको ग्रहण करता है’, ‘अतिरात्र में षोडशीको नहीं ग्रहण करता’, ‘सूर्य उदय होने पर होम करता है’, ‘सूर्योदय से पूर्व होम करता है’। इस प्रकार विधि और प्रतिषेध तथा विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद यहाँ (धर्म में) सावकाश होते हैं। परन्तु सिद्धपदार्थ इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पों का विषय नहीं है। विकल्प तो पुरुषबुद्धि की अपेक्षा करते हैं। सिद्धवस्तु का यथार्थज्ञान पुरुषबुद्धि की अपेक्षा नहीं करता; किन्तु वह तो सिद्धपदार्थ के ही अधीन है। एक स्थाणु (टूँठ) में स्थाणु है, या पुरुष है, या अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं होता। उसमें पुरुष है या अन्य कुछ है, यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है यह तत्त्वज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु के अधीन है। उसी प्रकार, सिद्धवस्तु का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है। अतः ब्रह्मज्ञान भी वस्तु के अधीन ही है, क्योंकि उसका विषय सिद्धवस्तु है।

(८.१) इस प्रकार अनुमानादि निन्दित होने पर भी ब्रह्मज्ञानप्राप्ति में त्याज्य नहीं हैं। उनका भी स्थान है क्योंकि जिज्ञासा का विषय ब्रह्म भूतवस्तु है, अनुभव में पर्यवसित होने वाला है। अन्य किसी भी ज्ञान की तरह ब्रह्मज्ञान भी वस्तुतन्त्र है—वस्तु जैसी है उसका ज्ञान भी वैसा ही होता है। वह पुरुषतन्त्र नहीं है,

ज्ञाता उसको अपनी इच्छा के अनुसार नहीं समझ सकता है। इसकी व्याख्या में दिये हुये स्थाणु के दृष्टान्त का पहले विवरण हो चुका है (अध्यासभाष्य १४.४)। इसलिये, ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुत्यादि और अनुभवादि यथासंभव प्रमाण हैं। श्रुत्यादि=श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास; अनुभवादि=अन्य प्रमाणों से प्राप्त अनुभव और प्रमेयज्ञानप्राप्ति में अड़चन डालनेवाली शंकाओं का परिहार करने में प्रयुक्त तर्क; यथासंभव=आवश्यकता अनुसार ये सब प्रमाण होते हैं।

(८.२) लेकिन धर्मजिज्ञासा में ऐसा नहीं है। वहाँ विचारणीय कर्म वस्तुतन्त्र नहीं, पुरुषतन्त्र है। इसलिये उसमें विधि-निषेध, विकल्प-उत्सर्ग-अपवादों के लिये स्थान है। विधि 'ऐसा करो' कहने वाले वचन; निषेध: 'ऐसा मत करो' कहने वाले वचन; विकल्प: पुरुषेच्छा के अनुसार 'ऐसा भी कर सकते हैं, वैसा भी कर सकते हैं' इस प्रकार के वचन; उत्सर्ग: 'हिंसा नहीं करना' ऐसे सामान्यवचन; अपवाद: सामान्यवचन का अपवाद-'इस यज्ञ में इस पशु की बलि दो' ऐसे वचन। धर्मजिज्ञासा में श्रुत्यादि ही प्रमाण है क्योंकि उसमें ब्रह्मजिज्ञासा के सदृश अनुभव की अपेक्षा नहीं है।

(८.३) ब्रह्मावगति के लिये अनुमानादि का निषेध करके, 'केवल श्रुत्यादि नहीं प्रमाणान्तरों के लिये भी स्थान है', ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है कि प्रमाणान्तर कहाँ स्वीकार्य है, क्यों स्वीकार्य हैं? अथवा कहाँ त्याज्य हैं, और क्यों त्याज्य हैं? जब तक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलेगा, ब्रह्मजिज्ञासा का क्रम नहीं मालूम होगा। जहाँ तर्क नहीं करना चाहिये वहाँ करना, और जहाँ करना चाहिये वहाँ तर्क नही करना, ये दोष जिज्ञासा में विघ्न डालते हैं। अब इन्हीं से मुक्त होने के लिये विचार करेंगे।

(८.४) प्रमेय द्विविध हैं, इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत। प्रमाण पांच हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम। इन्द्रियवेद्य प्रमेय पहले चार प्रमाणों के विषय है क्योंकि उन सबका प्रत्यक्ष ही आधार है। तत्काल के लिये अनुमानादि से अप्रत्यक्ष विषय की कल्पना करने पर भी उस कल्पित प्रमेय का अस्तित्व प्रत्यक्ष से ही निश्चित होता है, अन्यथा कल्पना त्याज्य होती है।

परन्तु आगम तो अप्रत्यक्ष विषयों को ही समझाता है। धर्माधर्मों को और प्रकृत्यतीत विषयों को अन्य प्रमाण नहीं समझा सकते, ये तो आगम के ही विषय हैं। तो भी, चूंकि आगम का लक्ष्य जीवों का अभ्युदय ही है, इसलिये उसमें धर्माधर्म का निश्चय प्रत्यक्ष विषयों से सम्बन्ध छोड़कर नहीं होता। अतः, आगम का धर्मजिज्ञासा वाला भाग अप्रत्यक्ष विषयों को समझाते हुए भी अन्य प्रमाणों के विरुद्ध बात नहीं करता। 'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है' ऐसा कहनेवाली सैकड़ों श्रुतियां भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती हैं। यदि श्रुति कहे कि 'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है' तो ऐसा मान लेना चाहिये कि श्रुति को कोई और ही अर्थ अभीष्ट है, क्योंकि किसी अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं

है-न हि श्रुतिशतम् अपि शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति बुवत् प्रामाण्यम् उपैति। यदि ब्रूयात् शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति तथापि अर्थान्तरं श्रुतेः विविक्षितं कल्प्यं प्रामाण्य-अन्यथा-अनुपपत्तेः न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा' (गी.भा. १८.६६)।

(८.५) ब्रह्मजिज्ञासा में अन्य प्रमाणों को अवकाश कैसे होगा? आगम ही कहता है कि अवकाश है; क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् के द्वारा ही ब्रह्म को समझाना है; दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिये, ब्रह्म को समझाने तक आगम, अन्य प्रमाणों का उपयोग करते हुये, उनके अविरुद्ध ही वर्णन करता है। 'एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण समझाता है। तथा लौकिक पद और पदार्थों का आश्रय लिये बिना शास्त्र के द्वारा किसी अज्ञातस्वन्तर को नहीं जाना जा सकता-न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयम् एव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। न च लौकिकपदपदार्थाश्रयव्यतिरेकेण आगमेन शक्यम् अज्ञातं वस्त्वन्तरम् अवगमयितुम्' (बृ.भा. २.१.२०)। इसलिये, ब्रह्म को समझने के मार्ग में प्रमाणान्तर का उपयोग अवश्य है। ब्रह्म को समझाने के बाद, नानात्व परिधि को पार करके जिज्ञासु को एकत्व पर ले आने के पश्चात्, नानात्वाधारित अन्य प्रमाणों का या अभ्युदयार्थ आगमभाग का सुतरां प्रवेश नहीं है। वहाँ एकमात्र उपनिषद् ही प्रमाण है। अतः जगत् के द्वारा ब्रह्म को समझने के बाद, तद्विपर्यय दिशा में 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म से जगत् कैसे आ सकता है? कूटस्थ ब्रह्म में जन्मादि व्यवहार कैसे हो सकता है?' इत्यादि प्रश्नों का अर्थ नहीं है। अर्थात् ब्रह्म से आरंभ करके जगत् को देखते हुये प्रश्न नहीं करना। लेकिन अप्रबुद्ध लोग करते हैं। इसलिये, करुणामय भाष्यकार ने 'ये प्रश्न अप्रष्टव्य हैं' इस प्रकार चेतावनी देते हुये समाधान देने का प्रयत्न भी किया है। 'ब्रह्म सिद्धवस्तु होने से उसमें अन्य प्रमाण संभव हो सकते हैं, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूपादि का अभाव होने के कारण ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंगादि के अभाव के कारण अनुमान आदि का विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्म के समान आगममात्र से ही ज्ञातव्य है-यत् तु उक्तम् परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च न अनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्' (सू. भा. २.१.६)। ऊपर भाष्य में आये वाक्य 'न धर्मजिज्ञासायाम् इव श्रुत्यादयः एव प्रमाणम् ब्रह्मजिज्ञासायाम्' और 'आगममात्र समधिगमस्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्' इस वाक्य को ध्यान से देखें। इस प्रकार चेतावनी देने के बाद आगे समाधान भी देते हैं। 'एकमेव अद्वितीय कूटस्थ ब्रह्म से सृष्टि कैसे होती है?' इस प्रश्न का उत्तर श्रुति-अविरुद्ध तर्क से इस प्रकार होता है: 'यहाँ श्रुति से अनुग्रहीत तर्क का अनुभव के सहायक रूप से ग्रहण किया गया है। स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था इन दोनों में परस्पर व्यभिचार होने के कारण आत्मा (प्राज्ञ) इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्ति में प्रपंच का परित्याग होने से आत्मा सत्स्वरूप आत्मा के साथ एक होकर निष्प्रपंच ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। प्रपंच

ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है; अतः कार्य कारण से अभिन्न है, इस न्याय से ब्रह्म से प्रपञ्च अभिन्न है, इस प्रकार का तर्क अंगीकृत होता है— श्रुत्यनुगृहीत एव हि अत्र तर्कः अनुभवाङ्गत्वेन आश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोः उभयोः इतरेतर व्यभिचारात् आत्मनः अनन्वागतत्वम्, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेः निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इति एवं जातीयकः' (सू.भा. २.१.६)।

९. ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेव इति वेदान्तवाक्यविचारणा अनर्थिकैव प्राप्ता? न। इंद्रिय-अविषयत्वेन संबन्धाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणि इंद्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि। सति हि इंद्रियविषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्यते। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्मात् जन्मादि सूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्, किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

९. (कोई शङ्का करे कि) ब्रह्म सिद्धवस्तु होने से अन्य प्रमाण का विषय है ही, इसलिये वेदान्तवाक्यों के विचार की अनर्थकता ही प्राप्त होती है। ऐसा नहीं है। क्योंकि ब्रह्म इंद्रियों का विषय नहीं है, इसलिए (उसका जगत् रूप कार्य के साथ) सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। इंद्रियाँ स्वभाव से विषयोन्मुख हैं, ब्रह्म को विषय नहीं करतीं। ब्रह्म इंद्रियों का विषय हो तो इस (जगद् रूप) कार्य का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है ऐसा जाना जा सके। परन्तु कार्यमात्र (अर्थात् यह जगत् ही इंद्रियों से) गृहीत होता है। उसका सम्बन्ध ब्रह्म के साथ है अथवा किसी अन्य के साथ है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए, 'जन्मादि सूत्र' अनुमान के उपन्यास के लिए नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्यों के प्रदर्शन के लिए है।

(९.१) कार्य-कारणानन्यत्वन्याय के अनुसार कार्यजगत् का कारणब्रह्म से तादात्म्य सम्बन्ध है (पूर्वार्ध); लेकिन ब्रह्म को जगत्सम्बन्ध नहीं है (उत्तरार्ध)। इस न्याय के पूर्वार्ध की विमर्शा मृदादि दृष्टान्तों से करके श्रुति ब्रह्म को समझाती है। इस समय श्रुति अन्य प्रमाणों के विरुद्ध बात नहीं करती। परन्तु उत्तरार्ध के संबन्ध में 'सन्मात्र ब्रह्म से ही जगदुत्पत्ति' इस अध्यारोप वचन के बिना श्रुति कुछ नहीं कहती; क्योंकि वह कुछ कह भी नहीं सकती। यह ब्रह्मज्ञान के बाद ही स्पष्ट होने का विषय है। तो भी, अन्य प्रमाणों से प्रभावित होकर सामान्य लोग पूछते हैं 'सन्मात्र ब्रह्म से जगत् कैसे आ सकता है?' अगर उसने ब्रह्म को समझ लिया है तो यह शंका नहीं उठनी चाहिये। इसके परिहार के लिये भाष्य में रज्जुवादि दृष्टान्त दिया जाता है। 'सर्प सा दिखने पर भी वह रज्जु ही है, जगत् सा दिखने पर भी वह ब्रह्म ही है। एक ब्रह्म ही है, उससे अलग जगत् नाम की कोई वस्तु है ही नहीं इसलिए ब्रह्म के स्वरूप में इस प्रश्न का स्थान ही नहीं है।' यह श्रुत्यनुगृहीत तर्क है।

इस प्रकार, जगत् द्वारा ब्रह्म को समझाते समय मृदादिदृष्टान्त, समझाने के बाद गृहीतब्रह्म के विषय में पैदा होने वाले संदेह के निवारण के लिये रज्जुवादि दृष्टान्त हैं। अध्यासभाष्य के प्रथम पद में अस्मत् शब्द का अर्थ आत्मा करने के दोष से उत्पन्न जगत्मिथ्यात्व से जो लोग चिपके हुये हैं, वे ये समझे बिना कि मृद्-घट और रज्जु-सर्प, दोनों विलक्षण दृष्टान्त हैं जिनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं, इनकी भिन्नता समझने के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं और फिर इन दृष्टान्तों का अनुवाद गलत सन्दर्भों में करते हैं। कार्य-कारण संबन्ध कहने वाले श्रुत्युक्त मृदादि दृष्टान्तों को छोड़कर, कार्यकारण न कहने वाले रज्जुवादि दृष्टान्तों को पकड़कर, रज्जु-सर्प में कारण-कार्य सम्बन्ध की कल्पना करके, उस कल्पित सम्बन्ध का 'विवर्तोपादान' ऐसा नामकरण करके वे लोग जगत्-ब्रह्म में कार्य-कारण भाव की व्याख्या करते हैं। ब्रह्म अविकारी है, परन्तु फिर भी जगत् का कारण है, इसका समन्वय करने के लिये उपर्युक्त कल्पना की गयी है तो वह अनावश्यक है क्योंकि मृद्दृष्टान्त से ही यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि श्रुतिवचन में **मृत्तिकेत्येव सत्यं** है। परन्तु उनका ध्येय तो यह सिद्ध करना है कि रज्जु में दिखायी देने वाले सर्प के समान जगत् दिखायी देने पर भी असत् है। यह सर्वथा अस्वीकार्य है। जिसने घटभाष्य (बृ.भा.१.२.१) का अध्ययन किया है, वह कभी जगत् का असत्त्व स्वीकार नहीं कर सकता। असद्वादियों के लिये भाष्य का यह परिच्छेद भी अनुकूल नहीं हो सकता, क्योंकि रज्जु-सर्प दृष्टान्त में रज्जु और सर्प दोनों ही नेत्रेन्द्रिय के विषय हैं, इसलिये सर्प देखने पर भी रज्जु के परीक्षण से यह निश्चय कर सकते हैं कि 'यह सर्प नहीं, रज्जु है'। परन्तु दार्ष्टान्त में तो केवल कार्यजगत् इन्द्रियवेद्य है, कारणब्रह्म नहीं। इसलिये, 'मिथ्या जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है' ऐसा कहकर ब्रह्म को नहीं समझाया जा सकता।

१०. किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत् सूत्रेण इह लिलक्षयिषितम्? "भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति" इत्युपक्रम्य आह "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति" (तै. ३.१) तस्य च निर्णयवाक्यम् "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" (तै. ३.६) इति। अन्यान्यपि एवं जातीयकानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव-सर्वज्ञस्वरूप-कारणविषयाणि उदाहर्तव्यानि।

१०. कौन सा वेदान्तवाक्य है जिसका इस सूत्र में विचार करना अभीष्ट है? 'भृगुर्वै०' भृगु वारुणि पिता वरुण के पास गया और कहा- 'भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये'-ऐसा आरम्भ करके कहते हैं-'यतो वा०' जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसमें जीते हैं, जिसके प्रति जाकर लीन होते हैं, उसको जानने की इच्छा कर, वह ब्रह्म है। उसका निर्णयवाक्य यह है-'आनन्दाद्ध्येव'-आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, जन्म लेकर आनन्द (ब्रह्म) से जीवित

होते हैं और आनन्द में लीन होते हैं। नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त सर्वज्ञस्वरूप जो कारण (ब्रह्म) है, उसके विषय में इस प्रकार के स्वरूपलक्षणों का निर्देश करनेवाले दूसरे वाक्य भी उद्धृत करने चाहिये ॥ २ ॥

(१०.१) कारणब्रह्म को समझाने के लिये प्रवृत्त इस जन्मादि सूत्र में जिन वेदान्तवाक्यों का विचार हुआ है उनका यहाँ उल्लेख कर रहे हैं। पहले ही भाष्यकार ने 'अस्य जगतः नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य'—नामरूप से व्यक्त अनेक कर्ता-भोक्ता से संयुक्त इस जगत् का, कहकर यह बता दिया है कि जगत् में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों आते हैं। यहाँ उल्लिखित वाक्य क्षेत्रज्ञ द्वारा ब्रह्म को समझाने के लिये है। जिस प्रकार से जगत् से ब्रह्म के सत्य, ज्ञान, अनन्त लक्षणों को अलग किया गया, उसी प्रकार यहाँ क्षेत्रज्ञ के विषयानन्दों से आनन्द लक्षण को अलग करना चाहिए। वास्तव में उस आनन्द का विषयों से संबंध नहीं है। निरुपाधिक क्षेत्रज्ञ का सुषुप्त्यानन्द ही मिथ्यज्ञान के कारण जाग्रत में विषयानन्द सा भासता है। 'यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेदान्तरं'—स्त्री से आलिंगित (पुरुष) अंदर या बाहर कुछ नहीं जानकर (बृ. ४.२.३२) कहकर श्रुति इसको समझाती है। सुषुप्त्यानन्द ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण आनन्द है—एषोऽस्य परम आनन्दः (बृ. ४.३.३२) इसलिये, सब सुषुप्त्यनुभव को 'न किंचिदवेदिषं' कहकर बुद्धिदृष्टि से और 'सुखमहमस्वाप्सम्' कहकर विषयसुखदृष्टि से समझते हैं। उसी प्रकार, क्षेत्र द्वारा ब्रह्म को समझाने के लिये वाक्य है:—'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म.....तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'—ब्रह्म सत्यज्ञान और अनन्त है। उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ (तै.२.१)। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेव अद्वितीयम्.....तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत्'—हे सोम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसने ईक्षण किया कि 'मैं बहुत हो जाऊं, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊं' (छा.६.२.१-३)। 'दिव्यो हि अमूर्तः पुरुषः.....अप्राणो हि अमनाः शुभ्रः.....एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च'—ब्रह्म दिव्य, अमूर्त, पुरुष, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध है। इससे ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं (मु.२.१.२-३)। 'आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्.....स इमाल्लोकानसृजत्'—पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उस (आत्मा) ने ही इन लोकों की रचना की (ऐ १.१.१-२) इत्यादि।

क्षेत्र से आरंभ करके ब्रह्मस्वरूप का निश्चय होने के बाद, 'वही क्षेत्रज्ञ का भी स्वरूप है' इसको समझाने वाले अन्तिम श्रुतिसन्देश का स्वरूपानन्द में पर्यवसान होता है। इसलिये, आनन्दब्रह्मवाक्यों का मुख्यरूप से उल्लेख करके अन्यवाक्यों को 'अन्यान्यपि' से संगृहीत करके अधिकरण समाप्त किया गया है।



शास्त्रयोनित्वाधिकरण

१. जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्म इति उपक्षिप्तम्। तदेव द्रढयन् आह।

१. ब्रह्म में जगत्कारणता दिखलाने से उसकी सर्वज्ञता सूचित हुयी; अब उसी को दृढ़ करते हुये कहते हैं:-

शास्त्रयोनित्वात् (सू. १.१.३)

शास्त्रस्य-वेद का; योनित्वात्-कारण होने से (ब्रह्म सर्वज्ञ है)।

भाष्यकार ने इस सूत्र के दो व्याख्यान किये हैं। पहला:-

२. महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थाविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हि ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञात् अन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद् विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेः ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽपि अधिकतरविज्ञानः इति प्रसिद्धं लोके, किमु वक्तव्यम् अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि प्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिः- श्वासवद् यस्मात् महतो भूताद्योनेः संभवः “अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदः” (बृ. ४.५.११) इत्यादि श्रुतेः, तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च इति।

२. अनेक विद्यास्थानों से उपबृंहित, प्रदीप के समान सब अर्थों के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञकल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि सर्वज्ञगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़ कर दूसरे से संभव नहीं है। जो जो विस्तरार्थ शास्त्र जिस पुरुषविशेष से रचे जाते हैं, उनका ज्ञेय का एकदेश अर्थ होने पर भी, ऐसे भी व्याकरण, पाणिनि आदि से, वह (पुरुषविशेष) उससे (शास्त्र से) अधिक ज्ञानवान् है, यह लोक में प्रसिद्ध है, तो अनेक शाखाभेद से भिन्न, देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि विभाग का हेतु, सर्वज्ञानका आकर, ऋग्वेद आदि संज्ञक का अनायास ही लीलान्याय से पुरुष निःश्वास के समान जिस

महान् सत्ययोनि से सम्भव है 'अस्य महतो०' (इस महान् भूत का जो निःश्वसित है वह ऋग्वेद है) इत्यादि श्रुति से जाना जाता है। उस महाभूत (ब्रह्म) के निरतिशय सर्वज्ञत्व और सवशक्तिमत्त्व के विषय में तो कहना ही क्या है।

केवल जगत् के जन्म, स्थिति, भंग का ही नहीं, बल्कि ऋग्वेदादि महाशास्त्रों का भी कारण होने से ब्रह्म का सर्वज्ञत्व दृढ़ होता है, क्योंकि जीवों के समुत्कर्ष के लिये आवश्यक वर्णाश्रम धर्मों को, उनके निःश्रेयस के लिये आवश्यक साधनों को, और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के स्वरूपों को समझाने वाला शास्त्र सर्वज्ञ है। सर्वकाल में सब प्रकार के मनुष्यों के लिये श्रेय और अभ्युदय के साधनों को बताना, किसके लिये कब क्या साधना है यह निश्चय करना सरल नहीं है। इस निश्चय के लिये वेद का उपबृंहण (विस्तार) अनेक विद्यास्थानों के द्वारा किया गया है। पुराण, मीमांसा, धर्मशास्त्र, न्याय और षड्वेदांग-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये सब विद्यास्थान हैं। इस प्रकार के सर्वज्ञरूप वेदों की उत्पत्ति सर्वज्ञ से ही हो सकती है, अन्य से नहीं। अर्थात् वेद अपौरुषेय हैं।

प्रश्न: वेद नित्य हैं। सूत्रकार आगे 'अत एव च नित्यत्वम्' (सू.१.३.२९) से इसी को कहते हैं। जबकि ऐसा है तो 'वेदों की उत्पत्ति' का क्या अर्थ है?

उत्तर: ऐसा नहीं है। वेदों की अभिव्यक्ति को ही उपचार के लिये उत्पत्ति कहा गया है। इस विषय में प्रपंचोत्पत्ति और वेदोत्पत्ति भिन्न नहीं है। कैसे? ऐसे:- 'सदेव सोम्येदमग्रासीत् -हे सोम्य! यह सब पहले सत् ही था' (छा.६.२.१)। 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत, अव्यक्तनिधानि एव'-हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त थे, बीच में व्यक्त होते हैं और मरण के बाद फिर अव्यक्त हो जाते हैं (गीता. २.२८)। 'प्रलीयमानमपि च इदं जगत् शक्त्यवशेषम् एव प्रलीयते। शक्तिमूलम् एव च प्रभव'-जगत् का प्रलय होने पर भी इसकी शक्ति शेष रहती है। इसी शक्ति से वह फिर प्रकट होता है (सू.भा. १.३.३०), इत्यादि वाक्य क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप जगत् को इसी अर्थ में नित्य कहते हैं। वर्णात्मक वेद भी इसी अर्थ में नित्य हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रलय में भी वेद वर्णात्मक रूप में ही रहते हैं। यदि ऐसा होगा तो प्रलय ही सिद्ध नहीं होगा; और 'एकमेवाद्वितीय' श्रुति का उल्लंघन भी होगा। जगत् की तरह वेद भी प्रलयकाल में सदूप में ही रहते हैं और अगली सृष्टि में अपने सदूप को छोड़े बिना ही वर्णात्मक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। ईश्वर के अनुग्रह से मंत्रद्रष्टाओं की स्मृति में मनोवृत्ति उपाधि द्वारा प्रवेश करके नादस्वरपदवाक्यरूप में प्रकट होते हैं (तै.भा.२.३)। असल में तो जगत् वेदशब्दपूर्वक ही अभिव्यक्त होता है। 'एते इति वै प्रजापतिः देवानसृजत, असृग्रमिति मनुष्यान्, इन्द्रव इति पितृन्, तिरः पवित्रमिति ग्रहान्, आशव इति स्तोत्रं, विश्वानि इति शस्त्रं, अभिसौभगेति अन्याः प्रजाः'-'एते' कहकर प्रजापति ने देवताओं

की सृष्टि की, 'असृग्रम्' से मनुष्यों की, 'इंदव' से पितरों की, 'तिरः पवित्रं' से ग्रहों की, 'आशव' से स्तोत्र को, 'विश्वानि' से शस्त्र की और अभिसौभग से अन्य प्रजाओं की (ताण्ड्य ब्राह्मण ६.९.१५)। जगत् की अभिव्यक्ति प्रजापति द्वारा होने मात्र से 'जगत् पौरुषेय है' ऐसा कोई नहीं कहता। उसी प्रकार मन्त्रद्रष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी वेद पौरुषेय नहीं हैं। 'वेद की यह सृष्टि सम्प्रदायप्रवर्तन रूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वेद की और किसी प्रकार से उत्पत्ति नहीं हो सकती—**उत्सर्गः अपि अयं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मकः द्रष्टव्यः अनादि निधनायाः अन्यादृशस्य उत्सर्गस्य असम्भवात्**' (सू.भा. १.३.२८)। 'जिन्होंने सबसे पहले ब्रह्माजी की सृष्टि की, जिसने ब्रह्मा जी को वेद प्रदान किये, आत्मज्ञानविषयक बुद्धि को प्रकट करनेवाले उस देव की मैं शरण लेता हूँ' (श्वे ६.१८), कहकर वेद समझाता है कि अपनी अभिव्यक्ति के लिये परब्रह्म ब्रह्माजी का उपयोग करता है। जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके ब्रह्म जैसे जगत् की सृष्टि करता है, उसी प्रकार वेद के विषय में भी समझना चाहिये। इस अभिव्याकरण में ब्रह्म को कुछ भी श्रम नहीं होता। पूरे ब्रह्माण्ड को कल्पादि से कल्पान्त तक घुमाते हुये जब श्रम नहीं होता तो क्या ब्रह्माजी द्वारा वेदाभिव्यक्ति करने में होगा? **वह बिना आयास ही वेद की सृष्टि करता है।** इसलिये, ब्रह्म सर्वज्ञ भी है, सर्वशक्त भी है।

कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा में सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तत्व अनादि अविद्या के कारण दिख पड़ते हैं; और कुछ कहते हैं कि ये जीव द्वारा कल्पित किये हुये आविद्यक व्यवहार हैं। उनका अभिमत है कि 'निरुपाधिक ब्रह्म में ये नहीं रह सकते', और इसलिये वे ऐसी कल्पनाएं करते हैं। यह ठीक नहीं है ऐसा कह चुके हैं। भाष्य निरुपाधिक ब्रह्म का ही सर्वज्ञत्व कहता है (सू.भा.१.१.५)।

आगे, '**जीवस्य.....ईश्वर समानधर्मत्वं.....विद्यमानम् अपि, तत् तिरोहितम् अविद्यादि व्यवधानात्**'—जीव में ईश्वर के समान धर्म रहने पर भी वह अविद्यादि व्यवधान के कारण छुपा रहता है (सू.भा. ३.२.५)। '**ईश्वरस्य नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्**'—ईश्वर सर्वकाल में अविद्या से मुक्त है (सू.भा. ३.२.९), इत्यादि से यह कथन कि सर्वज्ञत्वादि अविद्या के कारण ईश्वर में दिखायी पड़ते हैं या जीव से कल्पित आविद्यक व्यवहार है—स्पष्टतया भाष्य के विरुद्ध है। 'स्वरूप का सर्वज्ञत्व ही उपाधि द्वारा व्यवहार में दिखायी देता है, निरुपाधिक स्वरूप में व्यवहार नहीं है' इस प्रकार विवेक न करना ही इन कल्पनाओं का कारण है। सर्वज्ञत्वादि आविद्यक व्यवहार नहीं है, बल्कि सर्वज्ञत्वादि व्यवहार आविद्यक है, क्योंकि स्वरूप में व्यवहार नहीं है। असल में तो उपाधिदृष्टि से ही देखा हुआ व्यवहार आविद्यक है, सदात्मना तो वह भी सत्य ही है (छा. भा. ६.३.२, ७.२६.१)।

प्रश्न: वेद और पौरुषेय ग्रन्थों में क्या अन्तर है?

उत्तर: ग्रन्थकर्ता के संस्कार और सामर्थ्य के अनुसार लिखे गये पौरुषेय ग्रन्थ ईश्वरसृष्टि के कुछ अंश को ही लेकर प्रमाणांतर से उनका विश्लेषण करते हैं। वे समीप रहने वाले कुछ विषयों को असंपूर्ण

रूप से प्रकाशित करने वाले छोट-छोटे दीपक हैं। उनमें ग्रन्थकर्ता के भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि दोष भी हो सकते हैं। और दोष न रहने पर भी उनमें सुतरां सम्पूर्णता नहीं रहती। परन्तु वेद ऐसे नहीं हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप सम्पूर्ण जगत्, और कारणब्रह्म-ये वेद के विषय हैं, वेद का स्वरूप भी ब्रह्म ही है-‘इमे वेदाः यद्यमात्मा’-ये वेद यह आत्मा ही हैं (बृ.२.४.६)। वेद अपने स्वरूप को बिना छोड़े ही कार्य-कारण का विश्लेषण करते हैं। इसलिये उनमें कुछ भी दोष या असंपूर्णता नहीं है। वेद सब विषयों को सम्पूर्णतया प्रकाशित करने वाला प्रदीप है। यही है वेद का सर्वज्ञत्व। इसलिये, उसकी योनि ब्रह्म भी सर्वज्ञ ही है।

प्रश्न: पिछले जन्मादि सूत्र में ही ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध हो चुका है, फिर यहाँ पुनः उसका दृढीकरण करने का क्या औचित्य है?

उत्तर: मीमांसक लोग वेद नित्यत्व का अपने ही ढंग से व्याख्यान करते हैं, और फिर जगत् का भी उसी प्रकार नित्यत्व कहकर शास्त्रयोनि सर्वज्ञेश्वर का निराकरण करते हैं। उनके कथन का श्रुति से विरोध दिखाने के लिये भाष्यकार ने यह प्रथम व्याख्यान किया है। अब आगे इसी सूत्र का दूसरा व्याख्यान करते हैं:-

शास्त्रयोनित्वात् (सू. १.१.३)

(अथवा) शास्त्र-वेद (ही), योनित्वात्-प्रमाण होने से (ब्रह्म का ज्ञान वेदमूल ही है)।

३. अथवा यथोक्तं ऋग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणः यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्म अधिगम्यते इत्यभिप्रायः। शास्त्रम् उदाहृतं पूर्वसूत्रे “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” (तै. ३.१) इत्यादि। किमर्थं तर्हि इदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्रे एव एवं जातीयकं शास्त्रम् उदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्? उच्यते। तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्य अनुपादानात् जन्मादि केवलं अनुमानम् उपन्यस्तम् इत्याशङ्कयेत ताम् आशङ्कां निवर्तयितुम् इदं सूत्रं प्रवृत्ते शास्त्रयोनित्वाद् इति।।

३. पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थस्वरूप के ज्ञान में योनि-कारण अर्थात् प्रमाण है। शास्त्रप्रमाण से ही जगत् का जन्मादि कारण ब्रह्म समझा जाता है यह अभिप्राय है। पूर्व सूत्र में ‘यतो वा’ इत्यादि शास्त्रों का उदाहरण दिया है। जब पूर्व सूत्र में ही ऐसे शास्त्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार ने ब्रह्म शास्त्रयोनि है ऐसा कह दिया है, तब फिर इस सूत्र का क्या प्रयोजन है? इस विषय में कहा जाता है-पूर्वसूत्र के अक्षरों से शास्त्र का स्पष्ट उपादान नहीं किया गया है, इसलिये, जगत्के जन्म आदि का केवल अनुमान रूप से उपन्यास किया है ऐसी कोई शंका करे तो उस आशंकाको दूर करने के लिए ‘शास्त्रयोनित्वात्’ यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।। ३।।

प्रश्न: यह क्या है? पहले ब्रह्म का जगत्कारणत्व के निश्चय के लिये 'श्रुत्यादयः अनुभवादयः च इह प्रमाणम्'—श्रुति आदि और अनुभव आदि यहाँ प्रमाण हैं (सू.भा.१.१.२) कहकर अब 'शास्त्रात् एव प्रमाणात्'—शास्त्र प्रमाण से ही, जगत् जन्मादि के कारण ब्रह्म को समझना है ऐसा कह रहे हैं। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर: यह पहले ही कह चुके हैं कि 'सदेवसोम्येदमग्रासीत्' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मकारणत्व को समझते समय हमें तर्क, अनुभवादि का अवलंबन लेकर ही समझना है। यह इसलिये है क्योंकि इस श्रुति में 'इदम्-यह जगत्' प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय है। अतः श्रुति इन प्रमाणों को छोड़कर चर्चा नहीं कर सकती। लेकिन पुनश्च उद्धृत किये 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—जिससे ये प्राणी पैदा होते हैं इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है। 'जगन्मूल आनन्दस्वरूप है' यह कथन तर्क या अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है, केवल श्रुतिमात्र का ही विषय है। इसलिये, आनन्द ही जगत्कारण है यह समझने के लिये शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हो सकता है। 'क्या यह अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकता?' ऐसा सन्देह करें तो उसके परिहार के लिये ही यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। यही कारण है कि इस श्रुतिवाक्य का पहले उल्लेख होने पर भी उसे पुनः उद्धरित किया गया है।



समन्वयाधिकरण

इस प्रकार शास्त्रप्रमाण से ब्रह्म सिद्ध होता है। इस ब्रह्म का कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिये केवल कर्म के ही विषय में बात करने वाले मीमांसक इस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप उठाते हैं। अगला सूत्र इन आक्षेपों के समाधान के लिये ही प्रवृत्त है। इस सूत्र के विस्तृत भाष्य को समझने से पहले पूर्वमीमांसा के कुछ विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है, इनका संग्रह निम्नलिखित परिच्छेद में किया गया है:-

१. पूर्वमीमांसा का पक्ष यह है कि क्रिया से असंबंधित वेदवाक्य निरर्थक हैं लेकिन मीमांसाशास्त्र ही उत्तर भी देता है कि चूंकि वेदवाक्य निरर्थक नहीं होते इसलिये यथासंभव क्रिया से समन्वय करके ही उन्हें समझना चाहिये। उदाहरण के लिये 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'—भूतिकाम वायुदेवता को सफेद भेड़ की बलि दे (तै. संहिता २.१.१), यह एक विधिवाक्य है। आगे इन्हीं वायुदेवता के विषय में एक और वाक्य है: 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति'—वायु ही क्षिप्रतम देवता है। अपने भाग से वायु के पास ही पहुंचता है। वही इस को भूति दिलाता है (तै. संहिता २.१.१)। 'इस वाक्य का पिछले विधिवाक्य से कोई सम्बन्ध नहीं है' ऐसा रखकर इसकी स्वतन्त्र रूप से परिगणना की जाये तो वह निरर्थक होगी, इसलिये इसका प्रामाण्य नहीं रहेगा। प्रामाण्य कैसा सिद्ध होगा? पूछा तो, 'विधि के साथ एकवाक्यता होने के कारण विधि की स्तुति के द्वारा इसका प्रामाण्य सिद्ध होगा।' इस प्रकार के विधिस्तुति वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। इसी प्रकार निषेध के लिये प्रयुक्त निंदावाक्य भी अर्थवाद ही हैं। उदाहरण: 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'—वह रोया। रोने के कारण उसका नाम रुद्र है (तै. स. १.५.१)। यहाँ यह प्रसंग है कि किसी कारणवश अग्नि देवता रोये। उनके नेत्रों से जो आंसू गिरे वे रजत बन गये। स्वतंत्र रूप से देखने पर यह अख्यायिका निरर्थक है। इसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। इसलिये बर्हियाग में रजत का दान नहीं दिया जाता कहकर इसकी प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है। तात्पर्य यह है कि पूर्वमीमांसकों के अनुसार क्रियासम्बन्धरहित अर्थवाद निरर्थक है और ऐसे वाक्य विधि-निषेध की स्तुति-निन्दा के लिये ही कहे गये हैं, और इस प्रकार परिगणना करने पर ही इन वाक्यों का प्रामाण्यसार्थक्य है (जै. सू. १.२.७)।

अर्थवाद तीन प्रकार के हैं—अनुवाद, गुणवाद और भूतार्थवाद। 'अग्निः हिमस्य भेषजम्'—अग्नि शीत की औषधी है, यह और एक प्रमाण (प्रत्यक्ष) के लिये विषय है। इस प्रकार का अर्थवाद अनुवाद है।

‘यूप’ का अर्थ है आठ मुखों में कटी हुयी लकड़ी। ‘आदित्यो यूपः’ का अर्थ है यूप सूर्य है। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। इसलिये इसको, ‘सूर्य जैसे चमकने वाला’ इस अर्थ के द्वारा प्रवृत्त करने वाला अर्थवाद गुणवाद है।

जो प्रमाणांतर का विषय नहीं है परन्तु उसके विरुद्ध भी नहीं है, ऐसा अर्थवाद भूतार्थवाद है। उदाहरण के लिये, देवताओं का आकार बताने वाले वाक्य और किसी प्रमाण का विषय भी नहीं हैं, विरुद्ध भी नहीं हैं। ये भूतार्थवाद है। इनके बारे में अन्य प्रमाणों के आधार पर वाद नहीं करके श्रुतिशरण उनको जैसा है वैसे ही स्वीकार करते हैं (सू. भा. १.३.३३)

२. क्रिया या देवता को कहने वाले जो मन्त्र हैं, उनका अर्थ विवक्षित है या नहीं? इस विषय में चर्चा इस प्रकार है: दर्शपूर्णमासयाग के लिये वृक्ष की शाखा को काटते समय ‘इषेत्वा-बल के लिये तुम्हें’ इस मन्त्र को कहना है। संदर्भानुसार ‘छिनच्चि-काटता हूँ’, इस पद का अध्याहार करके मंत्र का अर्थ ‘इषेत्वा छिनच्चि’ करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि ‘क्या वृक्ष को काटने की क्रियामात्र पर्याप्त नहीं है? या मन्त्र का अर्थ भी विवक्षित है? अर्थात् क्या मन्त्र का उच्चारण करके ही क्रिया करनी है?’ मीमांसाशास्त्र उत्तर देता है कि ‘क्रिया करते समय इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुये उच्चारण करो, क्योंकि इसका अदृष्ट फल है’। इसी प्रकार ‘अग्निर्मूर्धा’ इत्यादि मन्त्रों में क्रिया के साधनभूत देवताओं का अर्थ ही विवक्षित मंत्रार्थ है। जैसे अर्थवादवाक्यों को विधिनिषेधों की स्तुति-निन्दा द्वारा प्रामाण्य प्राप्त होता है, वैसे ही क्रिया या क्रियासाधनों का वर्णन करने में ही मन्त्रों का भी प्रामाण्य है, अन्यथा नहीं। यह है मीमांसाशास्त्र का सिद्धान्त।

३. विधिनिषेधों के दो रूपः-अज्ञात विषयों को बतलाने वाला अज्ञातज्ञापक पहला है। यह कर्म के क्रमसाधनों को बताता है; कर्म में अप्रवृत्त को उसमें प्रवृत्त करने वाला अप्रवृत्तप्रवर्तक दूसरा है। यह कर्मफलों का विवरण कर अभिरुचि पैदा करके कर्मों में प्रवृत्त करता है। अप्रवृत्तप्रवर्तक को न कहने वाले, केवल अज्ञातज्ञापक वाक्य निरर्थक हैं। इसलिये उनका प्रामाण्य नहीं है क्योंकि दोनों को कहने से ही सार्थकता होती है और तभी मनुष्य को उससे प्रयोजन भी होगा।

अब चौथे सूत्र के विश्लेषण से पहले भाष्यकार का उपोद्घात है:

१. कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते यावता “आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्” (जै. सू. १.२.१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्? अतः वेदान्तानाम् आनर्थक्यम्। अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादि प्रकाशनार्थत्वेन वा क्रिया-विधिषोषत्वम्। उपासनादि क्रियान्तर विधानार्थं वा। न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति। प्रत्यक्षादि विषयत्वात् परिनिष्ठितवस्तुनः। तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते

पुरुषार्थाभावात्। अत एव “सोऽरोदीत्” (तै. सं. ५.१.१) इत्येवमादीनाम् अनर्थक्यं मा भूत् इति “विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः” (जै. सू. १.२.७) इति स्तावकत्वेन अर्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च “इषे त्वा” (तै. सं. १.१.१) इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वम् उक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधि-संस्पर्शमन्तरेण अर्थवत्ता दृष्टा उपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभवति। क्रियाविषयत्वात् विधेः। तस्मात् कर्मापेक्षित कर्तृस्वरूप देवतादि प्रकाशनेन क्रियाविधिषेष्टत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयात् नैतत् अभ्युपगम्यते, तथापि, स्ववाक्यगत-उपासनादि-कर्मपरत्वम्। तस्मात् न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वम् इति प्राप्ते उच्यते।

१. शास्त्र ब्रह्म में प्रमाण है, यह कैसे कहते हो? क्योंकि ‘आम्नायस्य०’ (वेद क्रियार्थक है इसलिए अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं) यह दिखाता है कि शास्त्र क्रियापरक हैं। इसलिए वेदान्त अनर्थक है, क्योंकि क्रियार्थक नहीं हैं। (कर्मांग) कर्ता, देवता आदि का प्रकाश करके वेदान्त क्रियाविधि के अङ्ग हो सकते हैं। अथवा उपासना आदि अन्य क्रियाओं की विधि के लिए हो सकते हैं। सिद्धवस्तु का प्रतिपादन करना तो (वेदान्तों का प्रयोजन) नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय है ही और उसका प्रतिपादन न हेय है और न उपादेय, अतः उसमें पुरुषार्थ का अभाव है। इसी कारण से ‘सोऽरोदीत्’ (वह रोया) इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों, इसलिए ‘विधिना०’ (विधिवाक्यों के साथ एकवाक्य होने के कारण, विधि की स्तुति के द्वारा सार्थक हैं)। इस प्रकार स्तुत्यर्थक होने से वे (‘सोऽरोदीत्’ इत्यादि वाक्य) सार्थक कहे गये हैं। ‘इषेत्वा’ (बल के लिए तुझे काटता हूँ) इत्यादि मन्त्र क्रिया और उसके साधनों का अभिधान करते हैं, इसलिए (मन्त्र) कर्मसम्बन्धी कहे गये हैं। किसी भी स्थल पर विधिवाक्यों के सम्बन्ध के बिना वेदवाक्यों की अर्थवत्ता न देखने में आई है और न उपपन्न भी है। सिद्धवस्तु के स्वरूप में विधि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि विधि क्रियाविषयक है। ये कर्म के लिए अपेक्षित कर्ता के स्वरूप, देवता आदि का प्रकाशन करने से वेदान्त क्रियाविधि के अङ्ग होते हैं। यदि अन्य प्रकरण के भय से यह स्वीकार न किया जाय, तो भी अपने (वेदान्त के) वाक्यों में उपलब्ध उपासना आदि के कर्मपरक होने दो। इसलिए ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक नहीं है, ऐसा (पूर्वपक्ष) प्राप्त होने पर कहते हैं—

(१.१) यहाँ पहले वाक्य का तात्पर्य ऊपर (१) में दिया गया है। ‘क्रिया से सम्बन्ध न रखने वाले वाक्य निरर्थक हैं’, यह पूर्वपक्ष रखकर शास्त्र का क्रिया में ही तात्पर्य है यह पूर्वमीमांसा में सिद्ध किया

जाता है। वेदान्त में कथित ब्रह्म तो क्रियासंबन्धरहित है, इसलिये मीमांसक आक्षेप करता है: 'वेदान्तवाक्य निरर्थक हैं। कम से कम यदि क्रिया के लिये कर्तृदेवतादि साधनों को कहा होता तो भी सार्थक होते, परन्तु वह भी नहीं है। उपासनारूप क्रिया को भी नहीं बताते। केवल परिनिष्ठित वस्तु को-रहने वाली वस्तु का ही वर्णन करने में कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसी वस्तु तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लिये विषय है ही, वेद का उनको समझाने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस ब्रह्म में विधिनिषेध भी न रहने से कोई सार्थकता नहीं है (ऊपर. २)। इसलिये, क्रिया से असंबन्धित ये वेदान्त वाक्य निरर्थक हैं।'

इसके प्रत्याक्षेप में यदि वेदान्ती कहे कि 'ब्रह्म ज्ञानकाण्ड का विषय है, कर्मकाण्ड के वाद का यहाँ अन्वय नहीं होता' - तो पूर्वमीमांसक का प्रत्युत्तर होगा: 'ज्ञानकाण्ड के उपनिषदों में भी उपासना तो कही ही है, इसलिये ब्रह्मवाक्यों का मानसिककर्मरूप उपासनाओं से तो सम्बन्ध है ही। यदि वह भी नहीं हो तो उनकी प्रमाणिकता ही नहीं रहेगी।'

सिद्धान्ती: ऐसा नहीं है। ब्रह्म शास्त्रयोनि ही है क्योंकि उसी में सब उपनिषद वाक्यों का समन्वय हो रहा है। कैसे हो रहा है? इस पर कहते हैं:-

तत्तु समन्वयात् (सू. १.१.४)

तु-परन्तु; तत्-वह ब्रह्म (शास्त्रयोनि ही है); समन्वयात्-समन्वय के कारण

२. तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेव अवगम्यते। कथम्? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण एतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि "सदेव सोम्येदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयम्" (छां. ६.२.१), "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐ. १.१.१), "तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृ. २.५.१९), "ब्रह्मैवेदम् अमृतं पुरस्तात्" (मुं. २.२.१२) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वये अवगम्यमाने अर्थान्तरकल्पना युक्ता। श्रुतहान्यश्रुतकल्पना प्रसङ्गात्।

२. 'तु' शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्, और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण वह ब्रह्म वेदान्तशास्त्र से ही जाना जाता है। किस प्रकार (जाना जाता है)? समन्वय से। 'सदेव०' (हे प्रियदर्शन! यह सब जगत् उत्पत्ति के पूर्व में एक ही अद्वितीय ब्रह्म था) 'आत्मा वा०' (यह एक ही आत्मा सृष्टि के पूर्वकाल में था), 'तदेत०' (वह यह ब्रह्म, पीछे वाला नहीं आगे वाला नहीं अंदर वाला नहीं बाहर वाला नहीं वह ब्रह्म सब का अनुभव करनेवाला आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदं०' (यह जो सामने भासता है, वह अमृतरूप ब्रह्म ही है)

इत्यादि वाक्य सब वेदान्तों में तात्पर्य से इसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए ब्रह्म में समन्वित हैं। इनमें आये हुए पदों का ब्रह्मस्वरूप के विषय में निश्चित समन्वय अवगत होने पर अन्य अर्थ की कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि (ऐसा करने से), सुनी हुई की हानि, और नहीं सुनी हुई की कल्पना हो जाती है।

(२.१) सूत्र में 'तत्' शब्द ब्रह्म का वाचक है। कौन सा ब्रह्म? जन्मादि सूत्र में सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्त, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण ब्रह्म। यह शास्त्रयोनि ही है, अर्थात् शास्त्र से ही जाना जाता है। 'श्रुत्यवगाह्यम् एव इदम् अतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्'—यह अतिगम्भीर ब्रह्म श्रुति से ही जाना जा सकता है, तर्क से नहीं (सू.भा. २.१.३१)। उपनिषदों के सारे वाक्यों और उनके पदों का इस ब्रह्म में ही समन्वय होता है (सम्यक् अन्वय=समन्वय), इसके दृढीकरण के लिये चारों वेदों में से एक-एक वाक्य लिया गया है:-

सामवेद के छान्दोग्य का 'सदेव सोम्य.....' का तात्पर्य है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप जगदाकार में खड़ा हुआ है; क्षेत्रज्ञ वही है।

ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद के 'आत्मा वा इदम्.....' वाक्य का तात्पर्य यह है कि पहले एक आत्मा ही था। उसी ने जगत् की सृष्टि करके, देह में जीवरूप से प्रवेश किया। प्रज्ञानब्रह्म यही है।

शुक्लयजुर्वेद के बृहदारण्यक के वाक्य 'तदेतद् ब्रह्म' का तात्पर्य है कि ब्रह्म अपने स्वरूप को समझाने के लिये स्वयं ही नानारूप जगदाकार में स्थित होकर, क्षेत्रज्ञ में भी रहकर सबका अनुभव कर रहा है। वही है यह आत्मा।

मुण्डक के अथर्ववाक्य 'ब्रह्मो वेदममृतं.....' का तात्पर्य है कि जो यह जानता है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के रूप में दिखने वाला यह सब कुछ ब्रह्म ही है, वह स्वयं भी ब्रह्म हो जाता है।

ये सभी वाक्य और उनके अन्तर्गत पद ब्रह्म को और ब्रह्मात्मैकत्व को निस्संदिग्ध रूप से समझा रहे हैं। इस प्रकार, उपनिषदों के वाक्य एवं पद, सबका ब्रह्म में ठीक-ठीक समन्वय होने पर भी श्रुतार्थ की हानि और अश्रुतार्थ की कल्पना करना दोष ही होगा।

३. न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरता अवसीयते। "तत्केन कं पश्येत्" (बृ. २. ४.१३) इत्यादि क्रियाकारकफल-निराकरण श्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं ब्रह्मणः। "तत्त्वमसि" (छां. ६.८.७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्र-मन्तरेण अनवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वात् उपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः। हेयोपादेशशून्य-ब्रह्मात्मता-अवगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादि

प्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगत-उपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मणः उपासना विधिशेषत्वं संभवति। एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादि द्वैतविज्ञान-उपमर्दोपपत्तेः। न हि एकत्वविज्ञानेन उन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति येन उपासना-विधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यपि अन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टम्, तथापि आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वात् न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न च अनुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्, येन अन्यत्रदृष्टं निदर्शनम् अपेक्षेत। तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।

३. उन वाक्यों का, कर्ता के स्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्केन०' (वहाँ कौन किसको देखे) इत्यादि श्रुतियाँ क्रिया, कारक और फल का निराकरण करती हैं। ब्रह्म यद्यपि सिद्धवस्तु है, तो भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस शास्त्र के बिना ब्रह्मात्मभाव समझ में नहीं आता। '(ब्रह्म) हेय और उपादेय से भिन्न है, अतः उसका उपदेश अनर्थक है', यह जो आक्षेप किया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि हेय और उपादेय से शून्य ब्रह्मात्मभाव के समझने से ही सब क्लेशों का नाश होकर पुरुषार्थसिद्धि होती है। यदि देवता आदि का प्रतिपादन करने वाले वाक्य वेदान्तवाक्यगत उपासना के अंग हों तो भी विरोध नहीं है। परन्तु उस प्रकार ब्रह्म उपासनाविधि का अङ्ग नहीं हो सकता है। एकत्व का ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रह्म हेय और उपादेय न होने से क्रिया, कारक आदि द्वैतविज्ञान का नाश होना सर्वथा युक्त है। एकत्व के विज्ञान से नष्ट हुए द्वैतज्ञान का फिर संभव नहीं है। जिससे कि ब्रह्म उपासनाविधि का शेष है ऐसा प्रतिपादन किया जाय। यद्यपि अन्य स्थलों में विधि के सम्बन्ध के बिना वेदवाक्यों की प्रमाणता देखने में नहीं आती, तो भी आत्मविज्ञान का मोक्ष फल है, अतः ब्रह्मविषयक शास्त्र के प्रामाण्य का निराकरण नहीं किया जा सकता। शास्त्र का प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है, जिससे कि अन्य स्थलों पर देखे हुए दृष्टान्तों की अपेक्षा करे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है।

(३.१) ब्रह्मात्मैकत्व में कर्मसंबन्ध न होने का हेतु बता रहे हैं। कर्ताकारकादि द्वैत में ही कर्म हो सकता है, अन्यथा नहीं। 'यत्र सर्वम् आत्मा एव अभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं शृणुयात्'—जहाँ सब आत्मा ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसको सुने (बृ.४.५.१५), कहकर श्रुति ब्रह्मात्मैकत्व में कर्तृत्व का निराकरण करती है। इसलिये, कर्मसम्बन्ध कैसे रह सकता है?

'देवतादि प्रतिपादनस्य तु.....' उपनिषदों में उपासना तो कही है। लेकिन, उससे भी आगे उपासक

की आत्मा को ब्रह्म ही बताया है। यह ब्रह्म उपासनाविधि का अंग नहीं हो सकता क्योंकि उपासना का आधार भी द्वैतबुद्धि ही है। लेकिन ब्रह्म तो एकमेवाद्वितीय है।

‘विधिसंस्पर्शम् अन्तरेण.....’ यह सही है कि कर्मकाण्ड में विधिसम्बन्धरहित वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, परन्तु ज्ञानकाण्ड में ऐसा नहीं है। उसमें वर्णित श्रुत्युक्त ब्रह्मात्मैकत्व तो सुषुप्ति में सीधा हमारे अनुभव में आ रहा है। इस अनुभव को पकड़े रहने का ज्ञाननिष्ठारूप निदिध्यासन आत्मैकत्वविद्याफल में समाप्त होता है। इस प्रकार शास्त्रवाक्य का प्रामाण्य अनुभव के आधार पर सिद्ध होता है। क्योंकि प्रमाण का प्रामाण्य अनुभव ही होता है। इसलिये, कर्मकाण्ड के निदर्शन को खींच कर उपनिषद में ले आना और फिर अनुमान से उसके प्रामाण्य को सिद्ध करना उचित नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे ज्ञानकाण्ड के आत्मैकत्व के आधार पर कर्मकाण्ड की प्रामाणिकता पर सन्देह करना उचित नहीं है।

(३.२) इस प्रकार, ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होने वाले आत्मैकत्व के आधार पर ब्रह्म में कर्म या उपासना रूप क्रियासंबन्ध का निराकरण होता है। लेकिन कुछ लोग फिर भी कहते हैं कि श्रुत्युक्त ब्रह्मज्ञान आत्मैकत्व सिद्धि के लिये नहीं है, परन्तु ब्रह्मोपासना, विधि का अंग है। इसलिये वे सिद्धान्त के विरोध में इस प्रकार वाद करते हैं:-

४. अत्र अपरे प्रत्यवतिष्ठन्ते। यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधि विषय-तथैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूप-आहवनीयादीनि अलौकिकान्यपि विधिषोषतया शास्त्रेण समर्प्यते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरत्वात् शास्त्रस्य। तथा हि शास्त्रतात्पर्यविदः आहुः “दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्” (शा. भा. १.१.१) इति। “चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्” (शा. भा. १.१.२), “तस्य ज्ञानमुपदेशः...” (शा. भा. १.१.२), “तद्भूतानां क्रियार्थेन समाप्नायः” (जै. सू. १.१.२५), “आम्ना-यस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्....” (जै. सू. १.२.१) इति च। अतः पुरुषः क्वचित् विषयविशेषे प्रवर्तयत् कुतश्चित् विषयविशेषात् निवर्तयच्च अर्थवत् शास्त्रम्। तच्छेषतया च अन्यत् उपयुक्तम्। तत्सामान्यात् वेदान्तानामपि तथैव अर्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादि कामस्य अग्निहोत्रादि साधनं विधीयते एवम् अमृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयते इति युक्तम्।

४. यहाँ दूसरा आक्षेप कहते हैं-यद्यपि शास्त्र ब्रह्म में प्रमाण है, तो भी शास्त्र, विधि के विषय उपासना का ब्रह्म अंग है, ऐसा बोध कराता है। जैसे यूप, आहवनीय आदि अलौकिक पदार्थ भी विधि के अंग हैं ऐसा शास्त्र बोध कराता है, वैसे ही। यह किस कारण से ? इससे कि

प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति यह शास्त्र का प्रयोजन है, क्योंकि शास्त्र का तात्पर्य जाननेवाले कहते हैं, 'दृष्टो हि०' (उसका अर्थ है क्रिया का ज्ञान कराना) यह और 'चोदनेति०' (चोदना क्रिया का प्रवर्तक वचन है) 'तस्य ज्ञानं०' (धर्म का ज्ञान विधिवचन से होता है) 'तद्भूतानां०' (उसमें भूतार्थक पदों को कार्यवाची पदों के साथ ही लेना चाहिए) 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है, अतः अक्रियार्थक वाक्य निष्फल हैं)। इसलिए पुरुष को किसी एक विषय में प्रवृत्त करानेवाला और किसी एक विषय से निवृत्त करानेवाला शास्त्र सार्थक है और दूसरे वाक्य उसके अंगभूत होकर उपयोगी होते हैं। उनके साथ सादृश्य होने से वेदान्तवाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं। यदि (वेदान्तवाक्य) विधिपरक हों तो जैसे स्वर्ग आदिकी कामनावालेके लिए अग्निहोत्र आदि साधनों का विधान किया गया है, उसी प्रकार अमृतत्व की कामनावाले के लिए ब्रह्मविज्ञानका विधान किया गया है, ऐसा युक्त है।

(४.१) यहाँ प्रतिपत्ति विधि का अर्थ है उपासनाविधि। उपासनाविधि के लिये ही शास्त्र ब्रह्म को समझाता है। कर्मकाण्ड में अप्रसिद्ध यूप, आहवनीय इत्यादि का कर्मार्थ के लिये जैसे शास्त्र वर्णन करता है, उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड में अप्रसिद्ध ब्रह्म का भी उपासना के लिये वर्णन किया जाता है। क्योंकि, 'तस्य ज्ञानं-वेद का प्रयोजन ही कर्म को समझाना है'। 'चोदना' का अर्थ है 'कर्म करने के लिये कहने वाला श्रुतिवाक्य' (शा.भा. 1.1.2), प्रचोदना नहीं। 'स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम से यज्ञ करे', यह चोदनावक्य है।

'तस्य ज्ञानम् उपदेशः.....' तस्य ज्ञानम् अर्थात् वेद जिस धर्म को समझाता है (उदाहरणः अग्निहोत्र) उसका उपदेश अर्थात् विधिवचन। दोनों का (धर्म और विधिवचन का) साथ-साथ कथन होना ही धर्म का प्रामाण्य है।

'तद्भूतानाम्.....' वेद लोक के पदपदार्थों का आश्रय लेकर ही अज्ञात विषयों को समझाता है। क्यों? क्रियारूप प्रयोजन के लिये।

'आम्नायस्य.....' 'क्रिया को न कहनेवाले वाक्य निरर्थक हैं', ऐसा कहकर पूर्वपक्षी शास्त्रवाक्यों के अर्थ का निर्णय क्रिया पर ही करने के लिये कहता है। इन सारे शास्त्रवाक्यों का तात्पर्य मुख्यतः प्रवृत्ति-निवृत्ति उत्पन्न करने वाले विधि-निषेधों में है। इतरवाक्य स्तुति-निन्दा या विधि के अंग रूप में उपयुक्त होते हैं। इसी नियम का वेदान्तवाक्यों में भी अन्वय होता है क्योंकि कर्मकाण्ड की तरह उपनिषद भी वेदभाग ही हैं। इसलिये ब्रह्मज्ञान ब्रह्मोपासना का अंग ही है। आगे, अपने इस वाद के ऊपर सिद्धान्ती के प्रत्याक्षेप का प्रत्युत्तर देकर मीमांसक वाद करता है कि ब्रह्मवाक्य उपासना के अंग ही हैं।